वैदिक धर्म

आश्विन सं. २०००
अक्तूबर १९४३

विषयानुक्रम ।

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु; वी. पी. से ५।≈) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग ।

दैवत-संहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध है, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं । एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है। प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.	देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।॥)	३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	॥)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।॥)	४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु.	।)

इस प्रथम भाग का मू. ५) रु. और डा. व्य. १॥) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मन्त्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ५) रु तथा डा. व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है।

वेदकी संहिताएं।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण) ५)	डा० व्य० १।)		३ सामवेद ३)	डा० व्य० ।।)
२ यजुर्वेद २)	,, ,, ॥)		४ अथर्ववेद (द्वितीय संस्करण) ५)	,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १५) रु और डा. व्य ३) है अर्थात् कुल मूल्य १८) रु. है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १०) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १३) तेरह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

१ काण्व संहिता (तैयार है) ३)	डा० व्य० ॥)		३ काठक संहिता ५)	डा० व्य० १)
२ तैत्तिरीय संहिता ५)	,, ,, १)		४ मैत्रायणी संहिता (तैयार है) ५)	,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २१॥) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १८) रु० में दी जायेंगी। डाकव्यय माफ होगा।

- मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २८६

वर्ष २४ : : : : अङ्क १०

आश्विन संवत् २०००

अक्तूबर १९४३

वीर।

वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः
प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा।
मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा
वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥

(ऋ० १।८५।४)

'(ये सु-मखास:) जो तुम अच्छे कर्म करनेवाले वीर (ऋष्टिभिः विभ्राजन्ते) शस्त्रों के साथ चमकते हो और हे (मरुतः) वीर मरुतो ! (यत् मनोजुव:) जब मनके समान वेगवान् (वृषव्रातास:) सामर्थ्यवान् संघ बनानेवाले तुम (रथेषु पृषती आ अयुग्ध्वं) अपने रथों में हरनियां जोडते हो, तब (अच्युता चित्) न गिरनेवाले सुदृढ शत्रु को भी (ओजसा प्रच्यवयन्त) अपनी शक्ति से हिला देते हो।'

जो वीर उत्तम कर्म करनेवाले हैं, वे अपने सामर्थ्य से शत्रुओं को स्थानभ्रष्ट करते हैं।

दैवत-संहितापर एक सम्मति।

'लोकमान्य स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलकद्वारा प्रस्थापित पूनेका प्रसिद्ध मराठी समाचारपत्र 'केसरी' अपने 'पुस्तक-परीक्षण' स्तम्भ में स्वाध्याय-मंडलद्वारा प्रकाशित, दैवत-संहिता के संबंधमें इस भाँति अपनी राय प्रकट करता है—

श्री **दैवत-संहिता**-(प्रथम भाग, संपादक भट्टाचार्य पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा) मूल्य ५) रुपये, पृष्ठ-संख्या ९६५)। पंडित सातवलेकरजी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक तथा बडी भारी आर्थिक हानि उठाकर हिन्दी भाषामें यह प्रचंड ग्रन्थ प्रकाशित किया है। ऋग्वेद की प्रत्येक देवता के बारे में ऋग्वेद के ही वचन उद्धृत करके और संहितास्थ मंत्रों की व्यवस्था में तनिक भी परिवर्तन न करते हुए तथा किसी भी प्रकार का बिगाड न करके मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने उस देवता के संबंधमें क्या कहा है, सो पूर्णतया बतलाने के लिए इस ग्रन्थका निर्माण हुआ है। देवताओं का वर्णन करते समय स्वाभाविक रूप से अग्रपूजा का सम्मान अग्नि देवता को, द्वितीय स्थान इन्द्र देवता को, तीसरा स्थान सोमदेवता को और चतुर्थ भाग मरुद्देवताको दिया है। इस प्रथम भागमें इन्हीं चार वैदिक देवताओंका समावेश किया है और इसके द्वितीय भाग में अश्विनौ, उषा, मित्र, वरुण इत्यादि देवताओंका

मन्त्र-संग्रह पाठकोंके विचारके लिए इकट्ठा किया जायगा।

इस ग्रन्थ की रचना इस भाँति हुई है। संपादकजी ने प्रारम्भ में उस विशिष्ट देवता के परिचय के तौरपर वेदके ही वचन उद्धृत करके उसके स्वरूप एवं पराक्रमका वर्णन किया है। पश्चात् उस देवता को लक्ष्य में रख वेदों में विद्यमान सभी मंत्रों की अकारादि वर्णानुक्रम से सूची दी गई है। यही इस ग्रन्थ का प्रमुख भाग है।

इसके बाद पुनरुक्त मन्त्र-सूची में दर्शाया है कि उस देवता के वर्णन की पुनरुक्ति कहाँ कहाँ हुई है। तदुपरान्त विशेषणसूची में उस देवता के लिए प्रयुक्त सभी विशेषणों का संग्रह किया है और अन्त में उपमासूची जोड दी है जिस में उस देवता के बारे में निर्दिष्ट सभी उपमाओं की तालिका दे दी है। इस तरह इस प्रथम विभाग में अग्नि, इन्द्र, सोम तथा मरुत् देवताओं का संपूर्ण परिचय पाठकों को पढने मिलता है। वेदके मंत्रों में हेरफेर न हो जाए, इस हेतुसे जैसे पद, क्रम, जटा, घन आदि प्रकार अस्तित्वमें आये वैसे ही इस ग्रन्थ के बनाने का प्रकार है। चारों वेदों में अग्नि देवता के लिए लगभग २५०० मन्त्र और इन्द्रदेवता के लिए साढे तीन सहस्र मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद के मंत्रों की संपूर्ण संख्या १० सहस्र से अधिक है। आधे से ज्यादह मन्त्र सिर्फ अग्नि एवं इन्द्र देवता के लिए रचे गये हैं। ऐसी दशा में ये सभी मन्त्र अग्नि, इन्द्र, सोम, मरुत्, मित्र, वरुण, अश्विनौ, उषा के संबंध में क्या कहते हैं, सो देखने के लिए इधर उधर बिखरे हुए मंत्र इस दैवतसंहिता में विविध सूचियोंसहित एकत्र किये गये है और उन मंत्रों के आधार पर उस उस विशिष्ट देवता के परिचय के नाते प्रारंभ में ही देवता-स्वरूप का अच्छा बोध कराया है। इस प्रकार इकट्ठे मुद्रित इन मंत्रों के अवलोकन से मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की विशाल कल्पना, देवता का प्रभावोत्पादक चित्र एवं उस के पराक्रम का इतिहास आदि बातें बिलकुल साफ तौर पर दिखाई देने लगती हैं।

अग्नि की अपेक्षा इन्द्र के पराक्रम विविधरूपी हैं और इस ग्रन्थ के अवलोकन से इस बात का भली भाँति परिचय मिल जाता है कि कैसी जोशीली भाषा में उसके विक्रम का बखान किया गया है, तथा दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विभिन्न स्थानों में पाये जानेवाले मंत्रों का एक स्थान में निरीक्षण करने से कई शब्दों का गूढसा प्रतीत होनेवाला अर्थ आसानी से सुलझाया जाता है और वैदिक मंत्रों का रहस्य ध्यान में आने लगता है। अग्नि, इन्द्र आदि शब्दों के जो विविध अर्थ देवतापरिचय-विभाग में दिये हैं उन पर दृष्टिपात करने से, यद्यपि संपादकजी की कल्पना-शक्ति से उत्पादित पूर्ति को आँखों से ओझल कर दें तो भी, ऋषियों की कल्पनाविपुलता पर अचंभा होने लगता है।

सोमदेवता का जो वर्णन किया है, उस से सन्देह होने लगता है कि क्या वह सोमवल्ली का है या चन्द्रमा का है? ऋग्वेद के नवम मण्डल में केवल सोमदेवता के मन्त्र पाये जाते हैं, वह सोम अर्थात् ही सोमवल्ली है, लेकिन अन्य स्थलों में सोम का अर्थ चन्द्रमा है, अतः इस सोमदेवता-विभाग में दोनों अर्थवाले मंत्रोंका संग्रह पाया जाता है। हाँ, ब्राह्मण ग्रन्थों में तो सभी जगह सोम याने सोमवल्ली यही अर्थ प्रचलित है। परन्तु सोमका तात्पर्य सुरा या मद्य नहीं, यह सोमके विभिन्न गुणों के वर्णन से सिद्ध है।

मरुद्देवता सैनिक-संगठन एवं सामर्थ्य की देवता है और इस देवता के स्तुतिके मन्त्र विशेष अर्थबोधक भी हैं, तथा मरुतों के गुण दर्शाने के लिए प्रयुक्त विशेषण अधिकतया सैनिक-संगठन एवं पराक्रमको दर्शानेवाले हैं। पं० सातवलेकरजीने देवतापरिचय-विभाग में इस संबंध में अधिक स्पष्टीकरण किया है।

साधारण रूप से ऋग्वेदके वर्णित अग्नि, इन्द्र, सोम तथा मरुत् चारों देवताओंके संबंध में वेदों में जो कुछ भी कहनेयोग्य है वह साराका सारा इस दैवत-संहिता ग्रन्थ के प्रथम भाग में समाविष्ट किया गया है और द्वितीय भाग में इसी भाँति मित्र, वरुण, उषा, प्रजापति आदि देवताओं के संबंध में सविस्तर वर्णन आनेवाला है। इससे पं० सातवलेकरजी के अद्भुत प्रचारपरिश्रम की एवं अगाध बुद्धिमत्ता तथा कल्पनाचातुरीका परिचय मिलता है। वैदिक ग्रन्थोंके बारेमें पौर्वात्य पंडितके किये इस तरह के परिश्रमोंका यह पहला ही उदाहरण है, इसलिए इसे प्रोत्साहन देना अभीष्ट है।

ज्येष्ठ ब्रह्मका सम्यक् दर्शन।

(लेख १३ वाँ)

शौनकीय अथर्ववेद में (काण्ड १०, सू० ८ में) तथा पिप्पलादीय अथर्ववेद में (काण्ड १६, सूक्त १०१ से १०३ सूक्तों में) ज्येष्ठ ब्रह्म का उत्तम वर्णन है। जिन को ज्येष्ठ ब्रह्म का दर्शन करना हो, उन को इस मन्त्रभाग का मनन करना उचित है। इस मंत्रभाग में पाठकों को कई प्रकार के मन्त्रों को देखना होगा। कई मंत्र तो सरल होनेपर भी भावार्थ की दृष्टि से बडे ही गम्भीर प्रतीत होंगे, परन्तु कई मंत्रों के शब्द और वाक्य कठिन और क्लिष्ट प्रतीत होने पर भी उन का आशय बिलकुलही सरल होगा। यह तो वैदिक शैली ही समझनी चाहिये। मंत्रों से अर्थ और आशय प्राप्त कर के हम सब को ब्रह्म का दर्शन करने का यत्न करना चाहिये। देखिये; इस सूक्त का यह प्रारम्भ है—

(ऋषि- कुत्सः। देवता आत्मा)

(शौ० अथर्व १०।८, पिप्पलाद १६।१०१-१०३)

ज्येष्ठ ब्रह्म।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वः यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥१

'(यः भूतं भव्यं च सर्वं) जो भूत और भविष्य तथा वर्तमान काल में जो है, उस सब में (अधितिष्ठति) अधिष्ठित होता है, (यस्य च केवलं स्वः) जिस का अपना निज तेज है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लिये हमारा प्रणाम है।' इसी ज्येष्ठ ब्रह्म का हमें इस लेख में दर्शन करना है।

'**तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**' यह चरण स्कम्भसूक्त में मंत्र ३२-३४, ३६ इन चारों मंत्रों में है। इस चरण से इस सूक्तके पूर्वके स्कम्भसूक्त के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है।

भूत काल में जो हो चुका था, वर्तमान काल में जो हो रहा है और भविष्य काल में जो होगा, उन सब में स्वयं-प्रकाश ब्रह्म अधिष्ठित हुआ है। अधिष्ठित होने का तात्पर्य अन्दर सर्वत्र पूर्णतया स्थित होना है, सर्वव्यापक होना है। पूर्व लेख में बताया है कि, यहां की व्यापकता घडे में मिट्टी के समान अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण की सर्वव्यापकता है। एक वार इस विषय का स्पष्टीकरण हो चुका है, अत. इस विषय में यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

इस विषय में द्वितीय मंत्र देखिये -

ब्रह्ममें सब समर्पित है।

स्कम्भेन इमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कंभ इदं सर्वं आत्मन्वत् यत् प्राणत् निमिषत् च यत्॥२॥

'(स्कम्भेन वि-स्तभिते) सब के आधारस्तम्भने विशेष रीतिसे धारण किये ये द्युलोक और भूलोक (तिष्ठत:) अपने स्थान पर ठहरे हैं। (यत् प्राणत् निमिषत् आत्मन्वत् सर्वं) जो प्राणधारी, निमेष उन्मेष करनेवाला तथा आत्मा-वाला है, वह यह सब (स्कम्भे) इस आधारस्तम्भ में ठहरा है।'

जो प्राण धारण करता है, आंखों की पलके हिलाता है, जिस में आत्मा है, वह सब इस श्रेष्ठ ब्रह्म में हैं। जिस तरह घडा मिट्टी में रहता है, जिस तरह जेवर सोने में रहते हैं, वैसा ही यह सब ब्रह्म में रहा है। यहां प्राणधारी सजीव जगत् उस ब्रह्म में है, ऐसा कहा है। यह कहने का कारण यही है कि, 'जीव' ब्रह्म से सर्वथा पृथक् सत्तावाला है, ऐसा कइयों का ख्याल है, उस के निराकरण करने के लिये सब प्रकार का सजीव जगत् भी उसी में समाविष्ट हुआ है, ऐसा यहां कहा है। शेष द्यावापृथिवी में रहा सब विश्व उसी में है, यह ऊपर कहा ही है। जैसी घडे में मिट्टी और मिट्टी में घडा रहता है, वैसा ही चेतन और जड उस ब्रह्म में है और वह ब्रह्म इस जड चेतन में है, यह यहां के कथन का तात्पर्य है।

तत्र इदं सर्वं आर्पितं एजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम्॥३

इसी सूक्त का यह छठां मंत्र-भाग है। (तत्र) उस

ब्रह्म में (इदं सर्वं) यह सब (एजत्) हिलने डुलनेवाला, (प्राणत्) प्राण धारण करनेवाला (प्रति-स्थितं) रहा है। प्रत्येक वस्तु उसी की बनी है और प्राण धारण करनेवाला चेतन वस्तुमात्र भी उसी का बना है। यह सब जीव जगत् (तत्र आर्पितं) उसी ब्रह्म में अर्पित है, जैसा घडा मिट्टी में अर्पित हुआ होता है।

इसी वर्णन का अधिक स्पष्टीकरण करनेवाला इसी सूक्त का ११ वाँ मन्त्र है, वह अब देखिये—

सब मिलकर एक ही तत्त्व है।

यद् एजति, पतति यत् च तिष्ठति, प्राणदप्राण-न्निमिषच्च यद् भुवत्। तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं, तत् संभूय भवत्येकं एव ॥११॥

‘ (यत् एजति) जो हिलता डुलता है, (पतति) जो उडता है, (यत् च तिष्ठति) जो ठहरा है, जो स्थिर अथवा स्थावर है, जो (प्राणत्) प्राण धारण करता है, (अप्राणत्) जो प्राण का धारण नहीं करता, (यत् निमिषत् च) जो आंखों की पलकें हिलाता है, (यत् भुवत्) जो होता है, (तत् विश्वरूपं) वह संपूर्ण विश्व का रूप धारण करनेवाला है, वही (पृथिवीं दाधार) भूमि का धारण करता है, (तत् संभूय एकं एव भवति) वह सब मिलकर एक ही ब्रह्म होता है।’

जो यहां स्थिर चर, स्थावर जंगम, जड चेतन है, वह सब मिलकर एक ही ब्रह्म होता है। अर्थात् ब्रह्म ही सब रूपों को धारण करके विश्वके रूपसे रहा है। पूर्व द्वितीय और षष्ठ मंत्र का यह पूर्णतया पर्याप्त स्पष्टीकरण है। पाठक यहां यह बात समझे कि जैसी मिट्टी घडे में और घडा मिट्टी में है, जैसा सोना जेवरों में और जेवर सोने में हैं, वैसा ही ब्रह्म विश्व में और विश्व ब्रह्म में है। यहां वस्तु की एकता है, सत् की एकता है। रूपोंकी विभिन्नता होने पर भी जिससे ये रूप बने, उस वस्तु की एकता ही है।

पुरातन तत्त्व।

आविः संनिहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम्।
तत्रेदं सर्वं आर्पितं एजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥६॥

‘ (‘जरत्’ नाम महत् पदं) ‘ पुरातन ’ इस नामवाला एक बडा विस्तृत तत्त्व (गुहा) सर्वत्र गूढ या व्याप्त है, वह (आविः संनिहितं) प्रकट होकर भी सम्यक् रीति से रहा है। जो प्राण धारण करता है, जो हलचल करता है, तथा जो स्थिर है, (इदं सर्वं) यह सब (तत्र आर्पितं) उस एक तत्त्व में समर्पित हुआ है। ”

एक पुरातन तत्त्व है, वह सब से बडा है, तथा सर्वत्र गूढ है, अर्थात् सब में व्यापक है। वह गुप्त अर्थात् अदृश्य भी है और प्रकट भी है। वह सब के (संनिहितं) अत्यन्त पास है। स्थावर और जंगम, जीवित और जड, प्राणयुक्त और प्राणरहित जो भी कुछ इस विश्व में है, वह सब उस एक तत्त्व में सुस्थिर होकर रहा है। यहां दोनों प्रकार का सब विश्व एक ही तत्त्व में समर्पित है, यह बात स्पष्ट शब्दों में कही है अर्थात् तत्त्व-दृष्टि से सब पदार्थ एक ही तत्त्व के नाना रूप हैं और वही एक सत् तत्त्व (जरत्) पुरातन तत्त्व है। यहां इस तरह समझना चाहिये—

जरत् (पुरातन तत्त्व)

आविः (प्रकट)	(अप्रकट, अव्यक्त)
(स्थूल)	प्राणत्, एजत्

इस तरह सब विश्व उस में सुस्थिर हुआ है।

सनातन देवता।

एषा सनत्नी सनमेव जाता, एषा पुराणी परि सर्वं बभूव। मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥३०॥

‘ (एषा सनत्नी) यह सनातन देवता है, (सनं एव जाता) यह सनातन काल से विद्यमान है। (एषा पुराणी) यही प्राचीन देवता (सर्वं परि बभूव) सब कुछ सब ओर से बनी है। यह (मही देवी) बडी देवता (एकेन उषसः विभाती) एक से उषा को प्रकाश देती है और (सा मिषता एकेन विचष्टे) वही पलकें मिटानेवाले दूसरे आंख से सब को देखती है।’

एकही सनातन, पुरातन अथवा सबसे प्राचीन देवता है। यह देवता ही स्वयं (सर्वं परि बभूव) सब कुछ बन जाती है। सब ओर से अथवा सब प्रकार से स्वयं सब कुछ बनती है। वही एक देवता अपनी एक शक्ति से इस विश्व में

प्रकाश करती है और अपनी दूसरी शक्ति से आंखसे देखती भी है। अर्थात् प्रकाश देनेवाला सूर्य भी वही बनी है और पलकें मूंदनेवाली आंख अर्थात् द्रष्टाका नेत्र भी वही बनी है। और एक ही सत् से ये दोनों रूप हुए हैं। उषा, सूर्य अर्थात् प्रकाश भी उसी का रूप है और दृश्य देखनेवाली आंख भी उसी का दूसरा रूप है। दृश्य विश्व (सर्वं बभूव), देखनेवाली आंख (एकेन मिषता विचष्टे) और दर्शन का साधन प्रकाश (उषसो विभाती) यह सब एक ही सनातन देवता से होता है। वही सनातन देवता (१) दृश्य विश्व, (२) दर्शन साधन प्रकाश और (३) द्रष्टाकी आंख यह सब त्रिपुटी बनती है।

सनातनं एनं आहुः उताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥१२॥

'(एनं सनातनं आहुः) इस देवता को ही सनातन कहते हैं। (उत अद्य पुनः नवः स्यात्) परन्तु यह आज ही फिर नया बनता है। अर्थात् यह नया नया बनने पर भी सनातन ही है। जैसे (अन्यो अन्यस्य रूपयोः) भिन्न भिन्न रूपवाले (अहोरात्रे) दिन और रात्री के विभिन्न रूप [एक सूर्य से ही] (प्रजायेते) होते हैं।'

जैसे एक ही सूर्य के दिन का प्रकाश और रात्री का अन्धकार ये परस्पर विरुद्ध गुणधर्मवाले दो विभिन्न रूप बनते हैं, उसी तरह इसी एक सनातन देवसे एक पुनः पुनः नया बननेवाला रूप और दूसरा पुराना बनकर नाशको प्राप्त होनेवाला रूप, ऐसे दो रूप बनते हैं। एक ही सनातन देव से यह सब हो रहा है। इस विषय में अगला मंत्र देखिये–

प्रजापति का गर्भवास।

प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तः अदृश्यमानो बहुधा वि जायते। अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यद् अस्यार्धं कतमः स केतुः॥१३॥

'(अदृश्यमानः प्रजापतिः) न दीखनेवाला प्रजापालक ईश्वर (गर्भे अन्त. चरति) गर्भ के अन्दर संचार करता है और (बहुधा विजायते) बहुत प्रकार विशेष रीतिसे उत्पन्न होता है। इस तरह उसने (अर्धेन) अपने आधे भाग से (विश्वं भुवनं जजान) सब भुवनों को उत्पन्न किया है और (यत् अस्य अर्धं) जो इसका आधा भाग है, उस आधे भाग को जानने का (सः केतुः कतमः?) वह चिह्न कौनसा भला है?' अर्थात् किस पद्धति से उसका संपूर्ण ज्ञान हो सकता है?

इस मंत्र में कहा है कि प्रजापति परमेश्वर ही गर्भ में आकर, जन्म लेकर, नाना प्रकारकी योनियोंमें विशेष रीतिसे उत्पन्न होता है। वह स्वयं अदृश्य है, तथापि विशेष रीतिसे नाना योनियों में उत्पन्न होनेपर वही दृश्यमान होता है और वह दीखने लगता है। इसी ढंग से उसने अपने एक अंश से संपूर्ण विश्व का सृजन किया है। विश्व का सृजन करने की उसकी रीति मंत्र के पूर्वार्ध में वर्णन की है। स्वयं ही गर्भ में आकर नाना योनियों में जाकर नाना रूपों का धारण करना ही वह रीति है।

प्रजापति के गर्भ धारण करने के विषय में वेद में अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है–

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीराः तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ (वा. य. ३१।१९)

'प्रजापति परमेश्वर गर्भ के अन्दर संचार करता है। वह न जन्मनेवाला होनेपर भी अनेक प्रकार से विविधता के साथ उत्पन्न होता है। उस के मूल स्थान को ज्ञानी लोग देखते हैं। उसी में निश्चय से सब भुवन रहते हैं।'

यहां भी प्रजापति परमेश्वर गर्भ में बालक–रूप से जन्म लेता है, यह बात कही है। इसी तरह सब संसार का सृजन इस से होता है। सब भुवन इस परमेश्वर में वैसे ही हैं कि जिस तरह मृत्तिका में घडे रहते हैं। यही मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक में आया है–

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः। अजायमानो बहुधा विजायते। तस्य धीराः परिजानन्ति योनिं। मरीचीनां पदं इच्छन्ति वेधसः।

(तै. आ. ३।१३)

अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान्। शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः।

(तै. आ. १०।१।१; महानारा. उ. १।१)

एष हि देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स विजायमानः स जनिष्य-

माणः प्रत्यङ् मुखास्तिष्ठति विश्वतोमुखः ॥
(तै. आ. १०।१।१)

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥
(वा. य. ३२।४)

ये सब मन्त्र करीब करीब एक ही भाव बतानेवाले हैं। इनका आशय यह है– ' प्रजापति परमेश्वर गर्भ के अन्दर संचार करता है। यद्यपि वह (संपूर्ण रूप से) अजन्मा है, तथापि वह (अंशरूप से) नाना प्रकार (की योनियों में) जन्म लेता है। वह बडे से बडा होनेपर (अंशरूप से) अनेक ज्योतियों–देवतांओं को अपने साथ लेकर–शुक्र के द्वारा, वीर्य के द्वारा, गर्भ में प्रविष्ट होकर जन्म लेता है। यही ईश्वर सब दिशाओं में व्याप्त है, वही भूतकाल में जन्मा था, वही इस समय गर्भ में प्रविष्ट हुआ है। वही भूत कालमें जन्मा था, वही इस वर्तमान काल में जन्म ले रहा है और वही भविष्य काल में जन्म लेगा। इसी के सर्वत्र मुख हैं और इस के इस जन्म को ज्ञानी लोग ही जानते हैं। '

ये सब मन्त्र यही भाव बता रहे हैं कि परमेश्वर ही अंशरूप से नाना योनियों में उत्पन्न होकर नाना प्रकार के प्राणियों के रूपों में प्रकट हो रहा है। सब विश्व ही परमेश्वर का रूप है, यही यहां सिद्ध हुआ।

उत पुनः नवः स्यात् (मं. २३)= यह पुनः पुनः नयासा बनता है।

प्रजापतिः गर्भे अन्तः चरति (मं. १३)= प्रजापति परमेश्वर गर्भ में संचार करता है।

प्रजापतिः गर्भे शुक्रेण चरति (तै. आ. १०।१।१)= प्रजापति परमेश्वर गर्भ में शुक्र के साथ संचार करता है।

ये वचन बता रहे हैं कि, किस तरह प्रजापति परमेश्वर अपने एक अंश से जीव बनकर गर्भ में उतरता है। आज कल जो बताया जाता है कि पूर्व कर्म के पाप के भोग भोगने के लिये जीव शरीर धारण करता है, अर्थात् जन्म पापमूलक है, यह वेद का सिद्धान्त नहीं है। यह जैन बौद्धों की कल्पना वैदिक धर्मियों के अन्दर घुस गयी है। जन्म अथवा स्त्री–सहवास ये पापमूलक नहीं हैं। देवतांओंको देहधारण करके यज्ञ के प्रवर्तन करने का सुअवसर देने का यह पुण्य मार्ग है। वेद का यह सिद्धान्त है। इसलिये देह धारण करने की ओर पाठक पापदृष्टिसे न देखें। अग्निहोत्र धारण करके यज्ञ करना और यज्ञ से सुविचारपूर्ण शुभसंतान उत्पन्न करना वैदिक धर्म का मुख्य उद्देश है। वैदिक दृष्टि से परमेश्वर के अंश के साथ संपूर्ण देवताओंके अंश पुत्र-शरीरमें अवतरित होते हैं, इसीलिये कहा है–

ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिः गर्भे चरति ।
(तै. आ. १।१)= दैवी ज्योतियोंका धारण कर के स्वयं प्रजापति परमेश्वर गर्भ में आता है।

अर्थात् परमेश्वर का अंश जीव है और ३३ देवताओं के ३३ अंश इंद्रिय और अवयव बनकर जीवके साथ शरीर में रहते हैं। इस तरह जन्म पापमूलक नहीं है। जैन, बौद्ध, ईसाई, यहुदी, मुसलमान, कई आधुनिक हिंदूधर्मके पंथ ये सब जन्म को पापमूलक मानते हैं। यह सब मत अवैदिक हैं, अतः दूर करने योग्य है। शरीर को देवों का मन्दिर, अथवा सप्त ऋषियों का आश्रम वेद ने माना है। देवोंका मंदिर अथवा सप्त ऋषियोंका आश्रम पापमूलक नहीं हो सकता, वह तो पुण्यप्रवर्तक ही हो सकता है। वैदिक सिद्धान्त की यही विशिष्टता है और '**सर्वेश्वरवाद**' किंवा '**सदैक्यसिद्धान्त**' का सारसर्वस्व यही है। इसलिये पाठक इस दिव्य जन्म के तत्त्वको वैदिक दृष्टिसे देखें। अपने देह को पीप–विष्ठा–मूत्र का गोला न समझें, वैसा तो अन्य मतमतांतरवाले ही मानेंगे। वैदिक धर्मी तो देह को देवों का मन्दिर अनुभव करेंगे और ऋषियों का आश्रम बनायेंगे।

ऋषियोंका आश्रम और देवोंका मंदिर।

जैन बौद्ध धर्मवाले शरीर को पीप–विष्ठा–मूत्र का गोला मानकर इस शरीर को अति हीन और घृणित मानते हैं। वेद इस शरीर को ऋषियों का पवित्र आश्रम बताता है, इस विषय में इस सूक्त का यह मन्त्र मननपूर्वक देखने योग्य है—

तिर्यग्बिलः चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् । तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ ९ ॥

इसी तरह का एक मन्त्र शतपथ-ब्राह्मण १४।५।२ में

तथा बृ. उ. २।२।४ में आया है, उस का पाठ ऐसा है—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥ (बृ. आ. उ. २।२।४)

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥ (वा. य. ३४।५५)

'तिरछा मुखवाला एक लोटा उलटा रखा है, उस में संपूर्ण विश्वके रूप का यश रखा है। वहां सात ऋषि बैठते हैं, जो इस बडे सत्त्व के रक्षक है। यहां वाणी आठवी है, जो ब्रह्म का वर्णन करती है। प्रति शरीर में सात ऋषि है जो सात इस घर की रक्षा करते हैं। यहां सात नदियां हैं, जो सोनेके समय निद्रा लेनेवाले के आत्मलोक को पहुंचती हैं। वहां उस यज्ञ में दो देव जागते हैं।'

इन मंत्रों में सप्त ऋषियों के आश्रम का वर्णन है। नीचे मुख कर के एक लोटा उलटा रखा है। यह मनुष्य का सिर ही यह 'उलटा लोटा' है। इसका मुख नीचे की ओर टेढा है, उस लौटे का तलभाग ऊपर की ओर है। इस लौटे के तलभाग में अर्थात् मस्तिष्क में 'विश्वरूप यश' भरा है। यही मनुष्य का सर्वस्व है। मस्तिष्क ही, यह मनुष्य का मगज ही, मानवता का सारसर्वस्व है। सब विश्व के रूप का आकलन, संपूर्ण विश्व का ज्ञान इसी में समाया है। इस में सात ऋषि बैठकर तपस्या कर रहे हैं, इन के साथ वाणी भी आठवी ऋषिका है। दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात ऋषि यहां हैं। इंद्रिय-शक्तियां ही ये ऋषि हैं, क्योंकि ये ही ज्ञान लेते हैं। वाणी ज्ञान फैलाती है, इसलिये यह ऋषिका है।

ये सात ऋषि इस यज्ञभूमिरूपी शरीर की रक्षा करते हैं। यही सात नदियां हैं। सप्त नदियाँ यहीं हैं। ये नदियाँ जागते समय बाहर की ओर प्रवाहित होती हैं और सोने के समय पुनः उलटी अन्दर की ओर बहने लगती हैं।

जागना और सोना इसी से होता है। इंद्रियों की बाहर की ओर प्रवृत्ति होना ही जाग्रति है और अन्तर्मुखी वृत्ति ही निद्रा है। इस निद्रा में भी दो देव जागते हैं। ये दो देव श्वास और उच्छ्वास हैं। ये ही इस यज्ञभूमिरूपी शरीर की सुरक्षा के लिये जागते हैं।

इस शरीर को यज्ञभूमि और पवित्र क्षेत्र, इंद्रियों को ऋषिगण, श्वासोच्छ्वास को देव यहां कहा है। वेद इस तरह शरीर को ऋषियों का आश्रम और देवताओं का मंदिर कहता है। यह कल्पना कितनी ऊंची है और इस शरीर को मैल का गोला बताना कितना हीन है! इस का विचार पाठक करें और वैदिक तत्त्वज्ञान का महत्त्व जानें।

अब ताने और बाने की उपमा का विचार करते हैं—

ताना और बाना।

यो विद्यात् सूत्रं विततं, यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्, स विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥३७॥

वेदाऽहं सूत्रं विततं, यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्याहं वेद, वेदाथो ब्राह्मणं महत्॥३८॥

'जो जानता है कि, यहां सूत्र का ताना फैलाया है और इस सूत्रके ताने में सब प्रजाजन बानेके समान हैं, तथा इस ताने के सूत्र का मूल धागा जो जानता है, वही बडे ब्रह्म को जान सकता है॥ मैं इस सूत्र को जानता हूं, उस के ताने को जानता हूं, उस ताने में सब प्रजाएं बाने के रूप में हैं, यह भी मुझे मालूम है, इस ताने का सूत्र भी मैं जानता हूं, अतः बडे ब्रह्म को भी मैं जानता हूं।'

यहां बताया है कि, मूल में एक बडा ब्रह्म है, वह कपास के समान समझिये। इस कपास से सूत्र बनाया, इस सूत्र से ताना फैलाया और उस में बाना भी भर दिया है। इस से जो वस्त्र बना, वही यह विश्व है। इस विश्वमें सब देवता, सब भूत, सब प्राणी तथा अन्यान्य पदार्थ ये ताने और बाने के समान हैं। जिस प्रकार कपास वस्त्र में होता है, वैसा ही ब्रह्म इस विश्व में है। जो यह जानता है, वह विश्व को ब्रह्म का ही रूप जानता है। यही सत्य ज्ञान है। इस उपमा का वर्णन पूर्व लेख में आया है।

चक्र में आरे।

यत्र देवाश्च मनुष्याश्च, आरा नाभाविव श्रिताः। अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि, यत्र तन् मायया हितम्॥३४॥

'(यत्र) जिस में, (नाभौ आराः इव) नाभी में आरे

रहने के समान, देव और मनुष्य (श्रिताः) आश्रित हुए हैं, वह (अपां पुष्पं त्वा पृच्छामि) जलों का फूल मैं तुझे पूछता हूं कि (यत्र तत् मायया हितं) कहां वह कुशलता के साथ रखा है ? '

सूर्य चन्द्र आदि सब देव जिस नाभी में, जिस केन्द्र में, सुस्थिर हुए हैं, वह केन्द्र जानना चाहिये। वही केन्द्र ज्येष्ठ ब्रह्म है। जिस तरह कपास के आश्रय से सूत्र, ताना, बाना और वस्त्र रहे हैं, उसी तरह सब देव और सब मनुष्य एवं सब प्राणी उसी ब्रह्मरूपी फूल के पत्ते हैं, अथवा विश्वचक्र की ब्रह्मरूपी नाभी में सब देव आरों के समान हैं। यहां इस मंत्र में एक पुष्प की और दूसरी चक्र की उपमा कही है। पुष्प के पत्ते और चक्र-नाभी के आरे सब देव हैं। पुष्प का पराग-केंद्र ब्रह्म है और पत्ते सब देव हैं। चक्र का नाभी केंद्र ब्रह्म है और आरे सब देवताएं हैं। ये दोनों उपमाएं विचार करने योग्य हैं। नाभी और आरे मिलकर चक्र है और पराग-केन्द्र और पत्ते मिलकर पुष्प है। इसी तरह ब्रह्म और देव मिलकर उपास्य ब्रह्म है।

उसके रूपसे विश्व का रूप।

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हारितस्रजः ॥३१॥

' (अविः) ' संरक्षण करनेवाली ' (वै नाम देवता) इस नाम की एक देवता (ऋतेन परीवृता आस्ते) ऋत से चारों ओर से घेरी हुई है। (तस्या रूपेण) उस देवता के रूप से ही (इमे वृक्षाः) ये सब वृक्ष (हरिताः हरितस्रजः) हरेभरे और हरी मालाओं का धारण करनेवाले हुए हैं। '

एक देवता है। वह सब की सुरक्षा करती रहती है। उस देवता के ऋत नाम के नियम अटल हैं, जो सदासर्वदा अप्रतिहत गति से अपना कार्य करते रहते हैं। सभी विश्व इस देवता की सुरक्षा से सुरक्षित हुआ है और उस देवता के सनातन नियमों के अनुसार ही चल रहा है। कठोर भूमि पर भी जो ये सब वृक्ष हरेभरे और पत्तोंफूलों से लदे दीख रहे हैं, यह सब उस देवता का ही रूप है। यह एक रूपकात्मक कथन है। इस से स्पष्ट होता कि जैसे वृक्षों के रूप उस देवता के रूप हैं, उसी तरह पशुपक्षी, कृमिकीट मानव तथा अन्यान्य सब विश्वान्तर्गत रूप भी उसी देवता के रूप से ही रूपवान् हुए हैं।

अनन्तं विततं पुरुत्राऽनन्तं अन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतं उत भव्यं अस्य ॥१२॥

' (अनन्तं पुरुत्रा विततं) अनन्त ब्रह्म चारों ओर फैला है, (अनन्तं अन्तवत् च सं-अन्ते) अनन्त ब्रह्म और अन्तवाले पदार्थ ये परस्पर मिले जुले हैं। (अस्य भूतं उत भव्यं विद्वान्) इस विश्व के भूत और भविष्य को यथावत् जाननेवाला ज्ञानी (नाकपालः) स्वर्ग का रक्षणकर्ता ईश्वर (ते विचिन्वन्) उन अनन्त और सांत को विशेष रीति से जानकर (चरति) सर्वत्र गति करता है। '

इस मंत्र में कहा है कि सर्वत्र एक ही अनन्त ब्रह्म फैला है, यहां दूसरा कोई पदार्थ उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसी अनन्त में सान्त पदार्थ दीखते हैं, वे सब उसी के रूप से रूपवान् हुए हैं। अनन्त और सान्त का यह तत्त्व जानना ज्ञान से ही होता है। चूंकि एक ही अनन्त तत्त्व सर्वत्र फैला है, अतः जो सान्त पदार्थों की सत्ता है, वह भी उसी अनन्त की सत्ता में अन्तर्भूत है। अनन्त और सांत ये सापेक्ष ज्ञान देनेवाले पद हैं, एक ही ब्रह्म मे ये दोनों सापेक्ष भाग लीन होते हैं। अथवा ज्येष्ठ ब्रह्म मे अनन्त और सांत लीन होकर रहते हैं।

कमल में यक्ष।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षं आत्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३॥

' तीन गुणों से (सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों से) घेरा हुआ एक कमल है, उसको नौ द्वार (पत्ते) हैं। इस कमल में आत्मवान् यक्ष रहता है, इसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। '

यह कमल मनुष्य का शरीर है। इस शरीर में नौ द्वार हैं। एक मुख है, यह पूर्व-द्वार है। दूसरा गुदद्वार है यह पश्चिम-द्वार है। तीसरा मूत्रद्वार है, यह प्रजापति का द्वार है। ये तीन द्वार हैं। दो नाक, दो नेत्र और दो कान मिलकर छः द्वार हैं। ये छः और पहिले कहे तीन मिलकर नौ द्वार हुए। इन नौ द्वारों से युक्त यह कमल जैसा तेजस्वी शरीर है, इसमें सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियां हैं। समय समय पर ये वृत्तियां प्रबल होती हैं। इस कमल जैसे सुंदर शरीर में एक पूजनीय देव रहता है, वही आत्मा कहलाता

है। यही ज्ञातव्य है। आत्मज्ञानी अथवा ब्रह्मज्ञानी इस यक्ष को जानते हैं। 'यक्ष' का अर्थ 'पूजनीय देव,' है। इसी अर्थ के दो मन्त्र अथर्व १०।२।३१-३२ में हैं, उन्हें भी यहां देखिये—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षं आत्मन्वत्, तद् वै ब्रह्मविदो
विदुः ॥ ३२ ॥ (अ० १०।२।३१-३२)

'आठचक्रोंवाली और नौ द्वारोंवाली यह देवताओं की अयोध्या नगरी है। इस नगरीमें सुवर्णमय स्वर्ग नामक कोश तेजसे प्रकाशित है। यह कोश तीन आरो से (सत्त्व, रजस्, तमस् नामक तीन गुणों से) युक्त है, तथा यह तीन स्थानों पर (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों पर) आश्रित है। इस में आत्मवान् पूजनीय यक्ष रहता है। इसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।' यक्ष पद का अर्थ आत्मा अथवा परमेश्वर ऐसा है। इस विषय में निम्न लिखित मन्त्र देखिये—

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः। (अ. १०।७।३८)

'भुवन के मध्य में एक बडा यक्ष (पूजनीय देव) है, वह तेजस्विता में विशेष है, जो प्राकृतिक जल के पृष्ठ पर विराजता है। इस में जो कोई देव हैं वे रहते हैं, जैसी वृक्ष की शाखायें वृक्ष के स्तम्भ के आधार से रहती हैं।'

इस तरह 'यक्ष' पद से आत्मा परमात्मा का बोध होता है। पूर्वोक्त स्थान में वर्णित नौ द्वारोंवाली सुंदर नगरी में रहनेवाला यक्ष शरीरधारी आत्मा है, क्योंकि इंद्रियों से काम लेनेवाला यह है। यह विश्वात्मा का अंश है। 'अनन्त' और 'सान्त' का भाव बताने के लिये तथा जीव और शिव का विचार जानने के लिये ये मन्त्र बडे उपयोगी हैं। इससे जीवात्मा की योग्यता का पता लग सकता है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरा-त्मानं धीरं अजरं युवानम् ॥४४॥

'यह आत्मा (अ-कामः) निष्काम, (धी-रः, धीरं), बुद्धि को प्रकाशित करनेवाला, (अ-मृतः) अमर, (स्वयं-भूः) स्वयं ही नाना रूपों में प्रकट होनेवाला, स्वयं होनेवाला, (रसेन तृप्तः) रस से तृप्त, (न कुतश्चन ऊनः) कहीं भी न्यून नहीं अर्थात् सर्वत्र पूर्णतया भरपूर, (अजरं) जरा-रहित, कभी क्षीण न होनेवाला, (युवानं) युवा, सदा तरुण है। (तं आत्मानं एव विद्वान्) उस आत्मा को जाननेवाला (मृत्योः न बिभाय) मृत्यु से डरता नहीं।' मृत्यु का भय उससे दूर हो जाता है, क्योंकि मैं 'अजर अमर हूं' यह सत्य ज्ञान उसको अपने अनुभव से मालूम होता है।

यहां नवद्वार शरीर में रहनेवाले जीवात्मा के वर्णन के साथ साथ ही परमात्मा का वर्णन किया गया है। इसका कारण यह है कि परमात्मा का अंश ही जीवात्मा है, वह सर्वथा पृथक् अथवा सर्वथा विभिन्न नहीं है। अतः तत्वत. ये दोनों एक ही हैं। इसलिये साथ साथ और एक ही रीतिसे दोनों का वर्णन हुआ करता है। पाठक वेद के मंत्रों में सर्वत्र यही बात देख सकते हैं।

शतं सहस्रं अयुतं न्यर्बुदं असंख्येयं स्वं अस्मिन् निविष्टम्। तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२४॥

'सौ, हजार, लक्ष, करोडों अथवा असंख्येय इसके (स्वं) अपने निज बल (अस्मिन् निविष्टं) इसमें अर्थात् इस विश्व में प्रविष्ट हुए हैं। (अभिपश्यत.) सब ओर देखनेवाले सब प्राणी (अस्य तत्) इस का वह बल (घ्नन्ति) प्राप्त करते, या भोगते हैं। (तस्मात् एष देवः) इसलिये यह देव (एतत् रोचते) इस को प्रकाशित करता है।'

इस परमात्मा में अनन्त प्रकार के बल हैं। ये बल इस विश्व के नाना पदार्थों में फैले हैं, जैसा सूर्य में प्रकाश, अग्नि में दाहकता, वायु में प्राणशक्ति, जल में शान्ति, अन्न में तृप्ति, दूध में पुष्टि, औषधियों में रोग दूर करने की शक्ति, आदि अनन्त शक्तियां इस विश्वके अनन्त पदार्थोंमें संग्रहित हुई हैं। ये सब बल परमेश्वर के (स्वं) निज बल हैं और परमेश्वर से ही यह विश्व बनने के कारण इसमें ये बल (निविष्टं) भरपूर भर गये हैं। ये बल इस विश्व में हैं यह बात परमेश्वर देखता और जानता है। उस के देखते देखते सब प्राणी इन बलों को प्राप्त करते, इन बलोंपर हमला करते, उनको भोगते और (घ्नन्ति) उनको खाकर

समाप्त करते हैं, जिस तरह अन्न खा कर समाप्त करते हैं। परन्तु इस से उस का असंख्येय बल कम नहीं होता, प्रत्युत इस से उस प्रभु का (रोचते) तेज बढता है और वह प्रभु इस विश्व को अधिकाधिक ही तेजस्वी बनाता है अर्थात् उस का बल अपरिमित और अक्षय है।

बालादेकं अणीयस्कं उतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥२५॥

'(एकं बालात् अणीयस्कं) एक विभाग बाल से भी सूक्ष्म है और (एकं न एव दृश्यते) दूसरा विभाग दीखता नहीं है। (ततः परिष्वजीयसी देवता) इन दोनोंको आलिंगन देनेवाली वह देवता (सा मम प्रिया) मुझे प्रिय है।'

एक देवता है, वह दोनों को आलिंगन देकर रहती है। यहां आलिंगन देने का तात्पर्य दोनों को अपने अन्दर समा लेना है। जिस तरह 'ढेला' और 'मिठास' इन दोनों को 'मिश्री' आलिंगन देकर रहती है, अपने अन्दर समा लेती है, इस तरह यहां समझना उचित है। इस देवताके अन्दर जो जो विभाग समाये हैं, उन में से एक बाल से भी सूक्ष्म है, परन्तु 'दृश्य' है और दूसरा 'अदृश्य' है। दृश्य और अदृश्य विश्व को अपने अन्दर समा लेनेवाला जो है, वही आनन्दरूप प्रिय प्रभु है। यह समस्या इस तरह समझना उचित है—

ढेला + मिठास = मिश्री, खडी शक्कर
क्षर + अक्षर = पुरुषोत्तम (गीता अ. १५।१५-१८)
दृश्य + अदृश्य = परिष्वजीयसी प्रिय देवता
(अथर्व. १६।८।२५)
जड + चेतन = परमेश्वर

इस तालिका से मन्त्र का वर्णन स्पष्ट हो जायगा। पाठक इस ढंग से इस समस्याको समझ लेनेका यत्न करें।

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स, यश्चकार, जजार सः ॥२६॥

'(इयं) यह प्रिय देवता (कल्याणी) कल्याण करनेवाली, (अ-जरा) जरारहित अर्थात् कभी क्षीण न होनेवाली (मर्त्यस्य गृहे अ-मृता) मर्त्य के घर में अमर है। (यस्मै कृता) जिस के लिये यह देवता है, (सः शये) वह सो रहा है, (यः चकार) जो बनाता है, (सः जजार) वह जीर्ण अथवा क्षीण होता जाता है।'

पूर्वोक्त २५ वे मंत्र में (१) प्रिय परिष्वजीयसी देवता, (२) अणीयस्क दृश्य रूप, (३) अदृश्य सत्त्व, ऐसे तीन सत्त्वभाव कहे हैं। ये परस्पर सर्वथा पृथक् हैं, या पृथक् नहीं हैं, यह प्रश्न यहां उत्पन्न होता है। पूर्व मंत्रने ही कहा है कि जो एक प्रिय देवता है, वही अन्य दोनों भावों को अपने अन्दर समा लेती है। देखिये—

१ **तत् विश्वरूपं संभूय एकमेव भवति** (११)= यह सब विश्वरूप मिलकर एक ही तत्त्व होता है, अर्थात् विविधता इस मे नहीं रहती।

२ **आविः, संनिहितं गुहा, तत्र सर्वं प्रतिष्ठितं** (६) =प्रकट और गुप्त ऐसा जो है, वह सब उसमें रहता है।

३ **सनत्नी सर्वं परि बभूव** (३०)= सनातन देवता ही सब कुछ बन गयी है।

४ **मही देवी एकेन विभातीः, एकेन विचष्टे** (३०)= बडी देवी एक शक्ति से प्रकाश देती है और दूसरी शक्ति से देखती है। [अर्थात् दृश्य, दर्शन, द्रष्टा एक ही है।]

५ **अहोरात्रे प्रजायेते** (२३)= जैसे एक ही सूर्य से दिन और रात्री यह द्वन्द्व उत्पन्न होता है, [वैसे ही अन्य द्वन्द्व एक से ही बनते हैं।]

६ **प्रजापतिः गर्भे अन्तश्चरति, बहुधा विजायते, विश्वं जजान** (१३)= प्रजापति गर्भ में प्रविष्ट होता है, नाना रूपों में उत्पन्न होता है, इस तरह उन्होंने सब विश्व उत्पन्न किया है।

७ **स एव जातः स जनिष्यमाणः** (वा. य. ३२-४)= बना विश्व भी वह है और बननेवाला विश्व भी वही है।

८ **अनन्तं, अन्तवत् च, समन्ते** (१२)= अनन्त और सांत इकट्ठे मिले हैं।

इन सब मंत्रों का भाव ठीक तरह ध्यान में लाने से सब विश्व के 'संपूर्ण पदार्थ मिलकर एक ही सत्-तत्त्व होता है,' यह सदैक्यवाद का अथवा सर्वेश्वरवाद का सिद्धांत अच्छी तरह समझ में आ सकता है। वेद के सूक्तों में यह सर्वेश्वर-वाद अनेक वचनोंद्वारा बताया है, वैसा ही इस ज्येष्ठ ब्रह्म के सूक्त में भी कहा है।

कुमार कुमारी एक ही देव ।

त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार, उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥२७॥ उतैषां पितोत वा पुत्र एषां, उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः, प्रथमो जात , स उ गर्भे अन्तः ॥ २८ ॥

कुमार–कुमारी, स्त्रीपुरुष, पिता–पुत्र, वृद्ध–तरुण, ज्येष्ठ कनिष्ठ, भूतकाल में जन्मा और आज जन्मनेवाला, सर्वतोमुख तथा एकमुख आदि सब प्रकार के जो द्वन्द्व हैं, वे सब एक ही देव के रूप हैं, यह सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त इन मंत्रों में कहा है। अतः इनका अर्थ देखिये—

' तू स्त्री है, तू पुरुष भी है, तू कुमार है और कुमारी भी तू ही है, तू वृद्ध होकर दण्ड लेकर चलता है, तू जब जन्मता है, तब तू सब ओर मुखवाला-सब प्राणियों के मुख धारण करनेवाला होता है; तू इनका पिता है और तू ही इनका पुत्र है, इनमें तू श्रेष्ठ है और कनिष्ठ भी तूही है; एक ही देव (मनसि प्रविष्टः) मन में प्रविष्ट होकर (प्रथम. जातः) पहिले जन्मा था, (स. उ गर्भे अन्त·) वही गर्भ में अब पुनः जन्मा है । ' जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण में यह मन्त्र इस तरह आता है—

उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठ उतैषां पुत्र उत वा पितैषाम् । एको ह देवो मनसि प्रविष्टः पूर्वो ह जज्ञे स उ गर्भेऽन्तः ॥

[जै. उप. भा ८५ (३।१०।१२)]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह ' त्वं स्त्री० ' मंत्र अथर्ववेद के मंत्र के समान ही है । पिप्पलाद संहिता मे इस तरह है-

उतैव ज्येष्ठोत वा कनिष्ठोतैष भ्रातोत वा पितैषः।

' यहां भ्राता तथा पिता भी यही देव हैं,' ऐसा स्पष्ट कहा है । अर्थात् परमेश्वर ही पिता माता पुत्र भाई बहिन के रूप में आया है, यह विशेष स्पष्ट भाव पिप्पलाद शाखा के मंत्रने बताया है । यदि सभी विश्व के पदार्थ परमात्मा के रूप हैं, तब तो अपने घर के लोग भी उसी के रूप हैं, यह क्या संदिग्ध होगा ? सब विश्व में घर के सब लोग आने से वे सब ईश्वररूप ही हैं, अतः माता, पिता, चचा, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री, प्रपौत्र, प्रपौत्री, इष्टमित्र, नौकर-चाकर, गणगोत, पडौसी तथा सब अन्य ईश्वर के ही रूप हैं, अतः उन को वैसा पूज्य मानकर सब की यथायोग्य सेवा करनी चाहिये । जब मानवों का व्यवहार इस दृष्टिसे परिशुद्ध और पवित्रता-युक्त होगा, तभी मानव–समाज वैदिक धर्मके सिद्धांत पर आरूढ समझा जायगा। अब और देखिये-

*

सबका एक जीवन-स्रोत ।

पूर्णात् पूर्णं उदचति, पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदस्य विद्याम, यतस्तत् परिषिच्यते ॥२९॥

' पूर्ण से पूर्ण का उदय होता है, पूर्ण के द्वारा पूर्ण को सिंचित किया जाता है, अब (अस्य तत् विद्याम) इस का वह मूल हम जाने कि (यतः तत् परिषिच्यते) जिस से उस को जीवन मिलता है । ' इसी तरह का एक मन्त्र श ब्रा १४।८।१, बृ उ. ५।१ में है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णं उदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्णं एव अवशिष्यते ॥

(बृ. उ ५।१)

' यह ब्रह्म पूर्ण है, वह विश्व भी पूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण से ही इस पूर्ण का उदय हुआ है । पूर्ण से पूर्ण लेनेपर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है । ' दोनों मन्त्रों का तत्त्वज्ञान एकसा ही है । पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण विश्व का उदय होता है, इस पूर्ण विश्व को उस पूर्ण ब्रह्म से जीवन मिलता है, अत· इस पूर्ण विश्व के मूल कारणरूप उस ब्रह्मको जाने कि जिस से इस को जीवन मिल रहा है । जीव और जगत् का आदि स्रोत एक है और सब का जीवनसत्त्व वही है । क्योंकि ' सब मिलकर एक ही सत्–तत्त्व होता है । '

अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति संतं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं, न ममार, न जीर्यति ॥३२॥
अपूर्वेणेषिता वाचः, ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति, तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥३३॥

' (अन्ति संतं न जहाति) पास रहनेवाले को वह त्यागता नहीं, पर (अंति संतं न पश्यति) पास रहनेवाले को वह देखता नहीं । (देवस्य काव्यं पश्य) इस देवता का यह ज्ञान देखो, वह (न ममार) मरता नहीं और (न जीर्यति) क्षीण भी नहीं होता । (अ-पूर्वेण इषिता. वाचः)

जिस के पूर्व कोई नहीं है, ऐसे आत्मदेवने प्रेरित की हुई वे वाणियां (ता' यथायर्थं वदन्ति) यथायोग्य बोलतीं हैं। (यत्र गच्छन्ति, वदन्ति) जहां वे वाणियाँ जातीं हैं और बोलती हैं, वे एक ही बात (आहुः) कहती हैं कि (तत् महत् ब्राह्मणं) वही एक श्रेष्ठ ब्रह्म है। '

वह ब्रह्म सब के पास है, तथापि दीखता नहीं, परन्तु त्यागा भी नहीं जा सकता। विश्व की इस तरह रचना करने में जो उस की दिव्य चतुराई दीखती है, वह अवर्णनीय है। यह उस का ज्ञान सदा एकसा रहनेवाला है। इस आदि-देव आत्मा के द्वारा सब की वाणियां प्रेरित होती हैं और उन वाणियों से सत्य ज्ञान प्रकट होता है। वे सब वाणियां एक ही बात कहती हैं कि, यहां ' एक ही बडा ब्रह्म है' और कुछ नहीं है। एक ही सत् है। उसी के सब रूप हैं।

ब्रह्म सब पदार्थों के रूप धारण कर यहां है अर्थात् घडेमें मिट्टी के समान सब पदार्थों में वह है। सब ही विश्व के पदार्थ उसी के रूप हैं, तथापि वह इतना प्रत्येक पदार्थ में होने पर भी दीखता नहीं, पर कोई उसका नकार भी नही कर सकता, क्योंकि सब में वही एक सत्य है। वह उसकी चतुराई है, यह उसीका अपूर्व ज्ञान है, यह शाश्वत टिकने-वाला ज्ञान है, इसमें घट-बध नहीं होगा। जो मनुष्य योगसाधनादि द्वारा इस ब्रह्म की प्रेरणा को अपने अन्दर अनुभव कर सकता है, वही इस याथातथ्य ज्ञानको जान सकता है। आत्मा की शुद्ध प्रेरणा से ही मनुष्य में सत्य ज्ञान स्फुरित होता है। किसी बाह्य प्रमाणों के विना प्राप्त होनेवाला सत्य ज्ञान यही है। इस ज्ञान से एक ही घोषणा होती रहती है वह है- ' एक ही ब्रह्म सर्वत्र ओतप्रोत भरा है, दूसरा कुछ भी यहां नहीं है। ' यह एकत्वदर्शन ही मुख्य और सत्य-दर्शन है। (सर्वं खलु इदं ब्रह्म) सब ही सचमुच ब्रह्म है। यहां ब्रह्मके विना दूसरा कुछ भी नहीं है।

देखना और जानना।

ऊर्ध्वं भरन्तं उदकं कुम्भेनेव उदहार्यम्।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा, न सर्वे मनसा विदुः॥१४॥

' (कुम्भेन इव उदहार्यं) घडे से भरकर लाने योग्य (उदकं ऊर्ध्वं भरन्त) जल घडे से भरकर ऊपर उठाकर लाने के समान (सर्वे चक्षुषा पश्यन्ति) सब लोग अपने आंख से उस को देखते तो हैं, पर (सर्वे मनसा न विदुः) सब मनसे उसे ठीक तरह जानते नहीं। '

जल घडे में भरकर उस घडे को सिरपर रखते हैं और लाते हैं। देखनेवाले लोग घडे को तो देखते हैं, पर जल को नहीं देखते। इसी तरह सब लोग ब्रह्म को ही देखते और ब्रह्म के साथ ही व्यवहार करते हैं, परन्तु सब लोग यथायोग्य रीतिसे सब विश्व को ब्रह्मस्वरूप अपने मन से अनुभव नहीं करते।

वस्तुतः सब का सब व्यवहार ब्रह्म से ही हो रहा है, क्योंकि सब विश्व ही ब्रह्म है, अतः सब का सब व्यवहार ब्रह्म के साथ निश्चय से हो रहा है। परन्तु इस सत्य बात को सब लोग जानते नहीं। सब समझते हैं कि, हम व्यव-हार तो ब्रह्म से भिन्न जगत् से कर रहे हैं। परन्तु वस्तुतः सब लोग चक्षु से जो देख रहे हैं, वह ब्रह्म ही है, अतः व्यवहार भी उसी से किया जा रहा है। परन्तु सब इस सत्य को जानते नहीं। जब इस सत्य को जानेंगे, तभी उन का व्यवहार परिशुद्ध होगा।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये, तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति॥ १५॥

' (पूर्णेन दूरे वसति) पूर्ण के साथ दूर तक रहता है, वह (ऊनेन दूरे हीयते) न्यूनतासे दूर तक विरहित है अर्थात् उस में न्यूनता नहीं है, परन्तु सर्वत्र पूर्णता ही है। ऐसा बडा (यक्षं) पूजनीय देव भुवन के मध्य में है, इसीके लिये राष्ट्र का भरणपोषण करनेवाले सब देव उसी को बलि अर्पण करते हैं। '

इस विश्वमें सर्वत्र पूर्णता है, किसी स्थानपर न्यूनता नहीं है, क्योंकि सब विश्व ब्रह्म का ही रूप है। यही पूजनीय देव इस विश्व में है। इस को छोडकर यहां दूसरा कुछ भी नहीं है। सब अन्य देवताएं जो भी यहां हैं, वे सब इसी के रूप हैं और वे इस के तेज को धारण करती हैं और अपने कर्म से इसी की पूजा करती हैं।

शरीर में जिस तरह इंद्रियां कर्मों और ज्ञान द्वारा आत्मा की ही उपासना करती हैं, इसी तर विश्व में सूर्यादि सभी देव परमात्मा की शक्ति से प्रकाशित होते हैं और परमात्मा के लिये ही आत्मार्पण करते हैं अर्थात् जो करते हैं वह उसी के लिये करते हैं।

यतः सूर्य उदेति, अस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं, तदु नात्येति किंचन ॥१६॥

'जहां से सूर्य का उदय होता है और जहां सूर्य अस्त को चला जाता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्म है, ऐसा मैं मानता हूं। (तत् उ किंचन न अत्येति) उस का कोई उल्लंघन कर नहीं सकता।'

सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य की उत्पत्ति और सृष्टि के प्रलय में सूर्य का अस्त होना, इसी तरह अन्यान्य देवताओं की निर्मिति और उन का प्रलय, यह सब इस महत् ब्रह्म के अपूर्व रचनाचातुर्य से होता है, इसलिये वह ब्रह्म सब से श्रेष्ठ है और उस के नियमों का उल्लंघन कोई भी कर नहीं सकता। यह उस ब्रह्म का सामर्थ्य है।

चार प्रकारकी प्रजाएं।

(कुत्स। आत्मा। त्रिष्टुप्)

तिस्रो ह प्रजा अत्यायं आयन्, न्यन्या अर्कं अभितोऽविशन्त। बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीराविवेश॥ ३॥
(अथर्व. १० ८.३)

इस मंत्र के सदृश एक मंत्र ऋग्वेद में है, वह यह है-

(जमदग्निर्भार्गवः। पवमानः। त्रिष्टुप्)

प्रजा ह तिस्रो अत्यायं ईयुः न्यन्या अर्कं अभितो विविश्रे। बृहत् ह तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश॥ (ऋ. ८.१०१.१४)

इस मंत्र का विवरण शतपथब्राह्मण में निम्नलिखित प्रकार आता है-

प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास।...स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुः, तानीमानि वयांसि... ॥१॥... स द्वितीयाः ससृजे ता अस्य पराबभूवुः, तदिदं क्षुद्रं सरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृजे...ता अस्य परैव बभूवुः, त इमे सर्पाः... ॥२॥... स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा स्तनमेवाभिपद्य ताश्ततः संबभूवुस्ता इमा अपराभूताः॥ ३॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तं। 'प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुरिति।' (श. ब्रा. २.५.१.१-७)

'प्रजापति प्रारम्भ में अकेला ही था... उसने प्रजायें उत्पन्न कीं, उत्पन्न होते ही वे मर चुकीं, ऐसा तीन वार हुआ। वे पक्षी जम्बु और सर्प आदि प्राणी थे। प्रजापतिने विचार किया कि वे प्रजाएं मरतीं क्यों हैं? तब उस को मालूम हुआ कि इनको अन्न मिलता नहीं, इसलिये मरती हैं। तब उन्होंने चौथी वार स्तनवाली प्रजा उत्पन्न की, स्तन में दूध होने से यह प्रजा जीवित रहने लगी। इस वृत्तान्त को दर्शाने के उद्देश्य से ऋषिने 'प्रजा ह तिस्रो अत्यायं ईयु०' इत्यादि मंत्र कहा है।' इस स्पष्टीकरण को सामने रखते हुए ऊपर के मंत्र का अर्थ हम करते हैं-

'(तिस्र. प्रजाः अत्ययं आयन्=ईयु.) तीन प्रकार की प्रजायें पूर्व समय में नाश को प्राप्त हुईं, पश्चात् (अन्या अर्कं अभित न्यविशन्त) चौथी वार उत्पन्न हुई प्रजा सूर्यप्रकाश में अथवा अग्नि के सन्निध रहने लगी। (रजसः विमानः बृहत् तस्थौ) अन्तरिक्ष का मापन करनेवाला बडा देव वहां रहता है, (हरितः हरिणीः आ विवेश) हराभरापन हरेभरे वनस्पतियों में उसी से हुआ है।'

(ऋग्वेद-पाठका अर्थ-) '(भुवनेषु अन्तः बृहत् तस्थौ) भुवनों के मध्य में एक बडा देव है, वह (पवमानः हरितः आ विवेश) वायु हरेभरे वृक्षों में प्रविष्ट हुआ है।'

तीन प्रकार की प्रजाएं प्रथम उत्पन्न हुई पश्चात् चौथी मानवी प्रजा उत्पन्न हुई। यह मानवी प्रजा सूर्य की तथा अग्नि की उपासना करती हुई समाज संगठन कर के रहने लगी। सूर्य और अग्नि इन का उपास्य है, वायु भी इन का उपास्य है। ये देव औषधिवनस्पतियों में प्रविष्ट होकर प्राणियों की सहायता करते हैं। यह इस मंत्र का आशय है।

ये सब प्रजाएं प्रजापति ने अपनेमेंसे उत्पन्न कीं, क्योंकि केवल प्रजापति अकेला ही था, अतः उसने जो प्रजाएं सर्जन कीं, वह अपने से ही कीं। सूर्य, अग्नि तथा वायु भी उसी से उत्पन्न हुए और वे प्रजाओं के सहायक हुए। इसी तरह वनस्पतियाँ भी प्रजाओं की सहायक हुई हैं।

यहां प्रजापति से प्रजाओं के सृजन के विषय में कहा है। सूर्य की उत्पत्ति के पश्चात् उस से विद्युत् अग्नि वनस्पति के सृजन की बात कही है। ये सब विभिन्न पदार्थ नहीं हैं, परन्तु ये प्रजापति के ही रूप हैं, यह यहां कहने का तात्पर्य है।

अपादू अग्रे समभवत्, सो अग्रे स्वराभरत्। चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः, सर्वं आदत्त भोजनम् ॥ २१ ॥ भोग्योऽभवद् अथो अन्नं अदद् बहु। यो देवं उत्तरावन्तं उपासातै सनातनम् ॥ २२ ॥

'(अग्रे अपात् सं अभवत्) सृष्टि उत्पत्ति के प्रारंभ में पादहीन सृष्टि उत्पन्न हुई। (अग्रे सः स्वः आभरत्) प्रारंभ में इसने उस में चैतन्य भर दिया। (चतुष्पाद् भोग्यः भूत्वा) चतुष्पाद् भोगने योग्य होकर (सर्वं भोजनं आदत्त) सब पदार्थ भोजन के लिये इसने प्राप्त किये ॥ २१ ॥ (भोग्यः अभवत्) भोग भोगने योग्य वह बना; (अथो बहु अन्नं अदत्) और उसने बहुत अन्न खाया। वह सनातन (उत्तरावन्तं देवं) श्रेष्ठ देव की उपासना करेगा।'

प्रारंभ में पादहीन सृष्टि मच्छी सांप आदि होती है। उस सृष्टि में चैतन्य कार्य करने लगता है। पश्चात् गाय आदि चतुष्पाद् सृष्टि होती है, वह सब घास आदि खाती है। परमेश्वर सब प्राणियों के रूपों में अवतीर्ण होकर सब पदार्थों का भोग करता है। स्वयं भोगों को भोगता है और दूसरों का भोग्य भी बनता है। जैसी मछली छोटी मछली को खाती है और स्वयं बड़ी मछली का भोजन बनती है। आगे मानवप्राणी में यही ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करके स्वयं ब्रह्म होने का दावा करता है। मछली से मानव तक यह विविध सृष्टि उसी की है।

यहां सूर्य की उत्पत्ति का वर्णन अंशमात्र है। इस सूर्य के वर्णन के मंत्र इस के आगे आते हैं-

सूर्यचक्र = कालचक्र।

द्वादश प्रधयः, चक्रमेकं, त्रीणि नभ्यानि, क उ तच्चिकेत। तत्राहताः त्रीणि शतानि शंकवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ ४ ॥

'(द्वादश प्रधयः) चक्र की बारह हालें हैं, (एकं चक्रं) एक चक्र है, (त्रीणि नभ्यानि) तीन नाभियां हैं, (तत् कः उ चिकेत ?) इस को कौन ठीक तरह जानता है? (तत्र त्रीणि शतानि शंकवः आहताः) उस चक्रमें तीनसौ शंकु लगाये हैं, (षष्टिः च खीलाः ये अविचाचलाः) और साठ खील जो स्थिर रूप से लगाये हैं।'

सूर्यचक्र का यह वर्णन है। कालचक्र भी इसे कहते हैं। चक्र पर लोहे की हाल होती है, वैसी १२ हालें इस कालचक्र पर हैं। ये ही बारह महीने हैं। तीन नाभियां हैं, ये तीन काल हैं। ग्रीष्म, वृष्टि और सर्दी के मौसम ही ये तीन नाभियां हैं। ३६० शंकु और खील इस चक्र में हैं, ये चान्द्र वर्ष के ३६० दिन ही हैं। यहां ३०० दिनों को शंकु कहा है, और ६० दिनों को खील कहा है, इस से वर्ष के १० महिने और २ महिने ऐसे दो विभाग थे, ऐसा पता चलता है। अँग्रेजी 'डिसेंबर' महिना दसवाँ ही है। सेप्टेंबर, अक्टूबर, नवंबर, डिसेंबर ये क्रमशः सप्तम, अष्टम, नवम और दशम मास ही हैं। दश मास की गणना किसी समय थी। दो मास पीछे से लगाकर वर्ष के १२ महीने किये गये। यह भेद ३०० और ६० की पृथक् गिनतीसे प्रतीत हो रहा है। और देखिये—

इदं सवितर्वि जानीहि, षड् यमा एक एकजः। तस्मिन् हापित्वं इच्छन्ते य एषां एक एकजः ॥५

'हे सविता ! (इदं विजानीहि) यह तुम समझ लो कि (षट् यमाः) छ जुडवे हैं और (एकः एकजः) एक अकेला ही उत्पन्न हुआ है। (एषां यः एकजः एक) इन में जो अकेला उत्पन्न हुआ है, (तस्मिन्) उस के साथ अन्य छः (आपित्वं इच्छन्ते) अपना सम्बन्ध जोडना चाहते हैं।

छः जुडवे भाई हैं। वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरत, हेमन्त और शिशिर ये छः ऋतु हैं, क्योंकि एक ऋतु में दो महीने होते हैं, अतः इनको छः जुडवे भाई कहा है। ये १२ महिने हुए। एक अकेला है, यह अकेला ही जन्मा है। यह तेरहवाँ महिना है। अधिक मास अथवा मलमास इसको कहते हैं, त्रयोदश या पुरुषोत्तम मास भी इसको कहते हैं।

इस तेरहवे महीने के साथ अन्य बारह महिने अथवा अथवा छः ऋतु अपना सम्बन्ध जोडना चाहते हैं। इस का अर्थ इतना ही है कि चान्द्र वर्ष के ३५४ दिन हैं और सौर वर्ष के ३६५ दिन हैं। इन दोनों वर्षों में ११ दिनों का फेर है। अतः चान्द्र वर्ष का सौर वर्ष के साथ मेल रखने के लिये तीन चान्द्र वर्षों के अन्त में एक अधिक मास मानते हैं, यह तेरहवां महिना है। इस तरह इस का ६ ऋतुओं और १२ महिनों से सम्बन्ध है। इस मेल का यह वर्णन है।

(कुत्सः । आत्मा । त्रिष्टुप्)

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा । अर्धेन विश्वं भुवनं जजान, यदस्यार्धं क्व तद् बभूव ? ॥७॥

(अथर्व. १०.८.७)

ऐसा ही एक मंत्र प्राणसूक्त में है, उसे यहां देखिये-

(भार्गवो वैदर्भिः । प्राणः । त्रिष्टुप्)

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा । अर्धेन विश्वं भुवनं जजान, यदस्यार्धं कतमः स केतुः ? ॥१॥ (अथर्व. ११.४.२२)

'(एकचक्र=अष्टाचक्रं वर्तते) एकचक्र अथवा अष्टचक्र है, (एकनेमि) उस की एक नाभी है, (सहस्र-अक्ष-रं) सहस्र आरों से यह प्रकाश देता है और यह (पुरः प्र, पश्चा नि) आगे और पीछे घूमता है। (अर्धेन विश्व भुवनं जजान) आधे से सब भुवनों को इसने बनाया है, (अस्य यत् अर्धं) इस का जो आधा भाग है, (तद् क्व बभूव) वह कहां है ? तथा (सः कतमः केतुः) उस का चिह्न कहां है ?'

यह सूर्य का वर्णन है। एकचक्र सूर्य है, सहस्राक्षर अर्थात् वह हजारों किरणों से प्रकाश देता है। यह दिन में प्रकाश देकर सब भुवनों को प्रकाशित करता है, रात्री के समय अन्धेरे से सब विश्व ढक जाता है, उस समय यह सूर्य कहां जाता है ? अष्टा-चक्र सूर्य ही है, क्योंकि अहोरात्र के आठ प्रहर हैं, चार प्रहरों का दिन और चार प्रहरों की रात्री है। यह सूर्य ही कालचक्र है, जो पूर्व पश्चिम घूमता रहता है। सब को प्रकाश देता हुआ आयुका मापन करता है।

रथके सात घोडे।

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति । अयातं अस्य ददृशे न रूपं, परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥ ८ ॥

'(पञ्चवाही एषां अग्रं वहति) पांच घोडोंवाला रथ इस को आगे खींचता है, (युक्ताः प्रष्टयः अनुसंवहन्ति) जोडे हुए घोडे इस को साथ साथ खींचते हैं। (अस्य अयातं रूपं न ददृशे) इस का आक्रमित न हुआ रूप कोई देखता नहीं, (परं नेदीयः) दूर का पास और (अवरं दवीयः) पासवाला दूर है।'

सूर्य के रथ के सात घोडे हैं। यहां कहा है कि पांच घोडे रथ को जोडे हैं और दो घोडे बाजू से जोडे हुए चलाते हैं। इस तरह कुल सात घोडे हुए हैं। ये सूर्य के सात किरण ही हैं। मुख्य पांच और बाजू के अस्पष्ट दो मिलकर सात किरण हैं। ये ही सूर्य के घोडे हैं। इस की गति कोई देख नहीं सकता और इस को रोकनेवाला भी कोई नहीं है।

एकके तीन देव।

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसं अभितो वदन्ति । आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे, अग्निं द्वितीयं, त्रिवृतं च हंसम् ॥१७॥

'(ये) जो (अर्वाङ् मध्ये उत वा पुराण) अब के, मध्य काल के अथवा प्राचीन काल के (वेदं विद्वांसं) वेद के ज्ञाता की (अभितः वदन्ति) प्रशंसा करते हैं, (ते सर्वे) वे सब (आदित्यं एव परि वदन्ति) सूर्य की ही प्रशंसा करते हैं, तथा (द्वितीयं अग्निं) दूसरे अग्नि की और (त्रिवृतं हंसं) तीसरे हंस की ही प्रशंसा करते हैं।'

सूर्य, अग्नि और हंस की सर्वत्र प्रशंसा की जाती है। हंस भी प्रातःकाल का सूर्य है और अग्नि रात्री के समय सूर्य का प्रतिनिधि है। इस तरह सूर्य, विद्युत् अग्नि, एक ही हैं। यज्ञ में इनकी प्रशंसा होती है। इस तरह यज्ञ, सूर्य और वेद की प्रशंसा का तत्त्व सूर्य के वर्णन के साथ संबंधित हुआ है।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् । स देवान् सर्वानुरस्युपपद्य, संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ १८ ॥

(अथर्व. १०।८।१८; १३।२।३८; १३।३।१४)

'(स्वर्गं पततः अस्य हरेः हंसस्य) स्वर्ग को उडनेवाले चमकीले इस हंस के (सहस्र अह्न्यं पक्षौ वियतौ) सहस्र दिन के उड्डान के लिये पंख फैले हैं। वह हंस सब देवों को (उरसि उपपद्य) अपनी छातीपर धारण करके (विश्वा भुवनानि संपश्यन्) सब भुवनों को देखता हुआ (याति) जाता है।'

यही मन्त्र अथर्ववेद में ३ वार आया है, दशम काण्ड में एक वार और तेरहवें काण्ड में दो वार।

यहां का हंस सूर्य ही है। यह ब्रह्माण्ड के मध्य में है। सूर्य से जो किरण ऊपर की ओर जाता है, उस को ब्रह्मांड के अन्त तक पहुंचने के लिये एक सहस्र दिन लगते हैं, ऐसा इस मन्त्र का अर्थ कई मानते हैं।

कइयों का ऐसा मत है कि अधिक मास की अवधि १००० दिनों के अनंतर होती है। इस विषय की विशेष खोज होने की आवश्यकता है, तबतक यह मन्त्र अज्ञात ही रहेगा।

**सत्येनोर्ध्वस्तपति, ब्रह्मणार्वाङ् विपश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणिति, यस्मिन् ज्येष्ठं अधि-
श्रितम् ॥ १९ ॥**

'(सत्येन ऊर्ध्वः तपति) सत्य से अग्नि ऊर्ध्व गति से जलता रहता है, (ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति) ब्रह्म से- ज्ञान से नीचे की ओर सूर्य देखता रहता है, (प्राणेन तिर्यङ् प्राणिति) प्राण के साथ वायु तिरछा श्वसन करता है, (यस्मिन् ज्येष्ठं अधिश्रितं) इस में श्रेष्ठ ब्रह्म व्यापक है।'

अग्नि का ज्वलन ऊर्ध्वभाग में होता है। जो सत्यनिष्ठ होते हैं, वे ऐसे ही सीधे सरल रहते हैं। सूर्य अपने प्रकाश से नीचे की ओर देखता रहता है। वायु तिरछा भ्रमण करता, बहता रहता है। सूर्य, अग्नि और वायु से सब विश्व भरा है, जो ज्येष्ठ ब्रह्मसे परिपूर्ण है अर्थात् ज्येष्ठ ब्रह्म के ही सूर्य, वायु और अग्नि ये रूप हैं।

**येभिर्वात इषितः प्रवाति ? ये ददन्ते पञ्च
दिशः सध्रीचीः ? य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा?
अपां नेतारः कतमे त आसन् ? ॥ ३५ ॥**

'(येभिः इषितः वातः प्रवाति ?) किन से प्रेरित हुआ वायु बहता है ? (ये सध्रीचीः पञ्च दिशः ददन्ते ?) कौन पांचों दिशाओंको इकट्ठा स्थान देते हैं ? (ये देवाः आहुतिं अत्यमन्यन्त ?) कौन देव हैं जो आहुतियों की पर्वाह नहीं करते ? (कतमे ते अपां नेतारः आसन्) कौनसे वे देव हैं कि जो जलों को प्रवाहित करते हैं ?'

सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है। वह यह कि 'यह सब एक ही ब्रह्म के द्वारा हो रहा है।' एक ही ब्रह्म के बने ये देव हैं, जो नाना कर्म करते हैं।

**इमां एषां पृथिवीं वस्त एको, अन्तरिक्षं पर्येको
बभूव। दिवं एषां ददते यो विधर्ता, विश्वा
आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥ ३६ ॥**

'(एषां एकः इमां पृथिवीं वस्ते) इन में से एक अग्नि पृथिवी में बसता है, (एकः अन्तरिक्षं परि बभूव) दूसरा वायु अन्तरिक्ष में व्यापता है। (एषां यः विधर्ता दिवं ददते) इन में जो सब का धारणकर्ता है, वह द्युलोक सूर्य का धारण करता है और (एके विश्वाः आशाः प्रति रक्षन्ति) दूसरे देव सब दिशाओं की रक्षा करते हैं।'

अग्नि पृथ्वी में, विद्युत् अन्तरिक्ष में, सूर्य द्युलोक में और अन्य देव सब दिशाओं रहते हैं और सब की रक्षा करते हैं। ये सब देव एक ही ज्येष्ठ ब्रह्म की महिमा है, यह पहिले कहा ही है।

**यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्व-
दाव्यः। यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवा-
सीन्मातरिश्वा तदानीम् ? ॥३९॥**

**अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः
सलिलान्यासन्। बृहन् ह तस्थौ रजसो
विमानः, पवमानो हरित आ विवेश ॥४०॥**

'(यत् विश्वदाव्यः अग्निः द्यावापृथिवी अन्तरा) जब सब को जलानेवाला अग्नि द्युलोक और पृथिवी के बीच में जो है, उस को (प्रदहन् ऐत्) जलाता हुआ जाता है, तब (यत्र एकपत्नीः परस्तात् अतिष्ठन्) एक देव की देवपत्नियां आगे कहां रहीं थीं ? और (तदानीं मातरिश्वा क्व इव आसीत्) तब वायु कहां था ?'

'(मातरिश्वा अप्सु प्रविष्टः आसीत्) वायु जलों में प्रविष्ट होकर रहा था, (देवाः सलिलानि प्रविष्टा आसन्) सब देव अन्तरिक्षस्थ जल में प्रविष्ट हुए थे, (रजसः विमानः बृहन् ह तस्थौ) अन्तरिक्ष का माप करता हुआ बड़ा देव वहीं ठहरा था, (पवमानः हरितः आविवेश) शुद्धता करनेवाला देव हरेभरे वृक्षों में आविष्ट हुआ था।'

जब अग्नि सब विश्व को जलाने लगे और सब दिशाएं स्तब्धसी हो जावें, तब वायु क्या करता है ? जब अग्नि जलाने लगता है, तब वायु उस का सहायक होता है।

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥२०॥

'(यः ते अरणी विद्यात्) जो उन दोनों अरणियों को जानता है. (याभ्यां वसु निर्मथ्यते) जिन से अग्नि नामक वसुदेव मन्थनद्वारा निर्माण किया जाता है, (स) मन्येत) वह माने कि (ज्येष्ठं विद्वान्) मैं ज्येष्ठ ब्रह्म जानता हूं, (सः महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह बडे ब्रह्म को निःसंदेह जानता है।'

जिस तरह अरणियों में अग्नि रहता है और घर्षण से वह प्रकट होता है, अरणि की लकडियां सदा अग्निमय रहती हैं, उसी प्रकार सब विश्व ब्रह्ममय है, यह जो जानता है, वह ब्रह्म को यथावत् जानता है।

मंत्र, छंद और यज्ञ।

या पुरस्ताद् युज्यते, या च पश्चाद्, या विश्वतो युज्यते, या च सर्वतः। यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥१०॥

'जो ऋचा यज्ञ के प्रारम्भ में बोली जाती है और जो अन्त में कही जाती है, जो सर्वत्र बोली जाती है और जो प्रत्येक कर्ममें कही जाती है, जिससे यज्ञ का फैलाव किया जाता है, वह कौनसी ऋचा है, यह मैं तुझसे पूछता हू।

वेदमंत्रों से यज्ञ सिद्ध होता है और यज्ञ फैलाया जाता है। यज्ञ दिन के समय होता है। इसलिये सूर्य जैसा यज्ञ फैलानेवाला है, वैसा ही वेद प्रवर्तक भी है।'

उत्तरेणेव गायत्रीं अमृतेऽधि वि चक्रमे।
साम्ना ये साम सं विदुः, अजस्तद् ददृशे क्व ? ॥ ४१ ॥

'(गायत्रीं उत्तरेण इव) गायत्री के ऊपर, (अमृते अधि) अमर लोक के अन्दर (वि चक्रमे) वह देव विक्रम करता है। (साम्ना ये साम संविदुः) साम के अभ्यास से जो साम गान सम्यक् जानते है, तव (अजः ददृशे) अजन्मा देव कहां दीखता है ?'

वेद-मंत्रों से यज्ञ सिद्ध होता है। गायत्री आदि छंदों-द्वारा अमर देवों के विक्रम वर्णित हुए हैं। जिस तरह सामगान के अभ्यास से साम के गानों की आलापादि प्रक्रिया में प्रवीणता संपादित होती है, उसी तरह वेद-मंत्रों के पाठ से तथा यज्ञक्रिया के करने से उस में प्रवीणता प्राप्त होती है। इस से अजन्मा एक देव का जो सर्वत्र गुप्त रूप है, वह जाना जा सकता है।

फलश्रुति।

निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा। इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥४२॥

'(वसूनां संगमनः) धनों का दाता, (निवेशनः) सब का निवेश करनेवाला, (सविता देवः इव सत्यधर्मा) सविता देव के समान सत्यधर्म का प्रवर्तक ज्येष्ठ देव (धनानां समरे) धनों के जीतने के युद्ध में (इन्द्रः न तस्थौ) इन्द्र के समान स्थिर रहता है।'

अर्थात् इस ज्येष्ठ ब्रह्म के ज्ञान से सर्वत्र विजय होत है, जैसा इन्द्र सदा विजयी रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण।

इस लेखके अन्तिम विभाग में रखे १८ मंत्रों का स्पष्टीकरण यहां थोडासा अधिक करना आवश्यक है। 'चार प्रकार की प्रजाएं' इस शीर्षक के आगे के मंत्र ऐसे हैं कि जिन में मंत्रस्थ पद तो आसान हैं, पर इन का आशय और इन मंत्रों का प्रयोजन प्रकृत विषय के साथ क्या है, यह समझना मुश्किल है। इसलिये 'ज्येष्ठ ब्रह्म' के साथ इन मंत्रों का क्या सम्बन्ध है, इतना ही इस स्पष्टीकरण में बताना है। मंत्रस्थ उपदेश का अन्य विषय यहां बताना नहीं है। इन मंत्रों से 'ज्येष्ठ ब्रह्म' का वर्णन किस अंश-तक हुआ है, इतना ही अब हम यहां बताते हैं-

'चार प्रकार की प्रजाएं' इस शीर्षक के नीचे इस सूक्त के (मंत्र ३; २१; २२) ये तीन मंत्र हैं। इन मंत्रों में यह बताया है कि, 'प्रारम्भ में एक ही परमात्मा था, उसने अपने में प्रजाओं का सर्जन किया। सब विश्व जो तेजस्वी और हराभरा दीखता है, वह उस की सामर्थ्य से ही है। प्रथम सृष्टि पादरहित थी, जिन को सर्प-मछली आदि कहते हैं। पश्चात् पांववाली सृष्टि हुई। सब सृष्टि में उसी का चैतन्य संचरित हुआ। वही प्रभु अन्न हुआ और वही भोक्ता अर्थात् खानेवाला हुआ। इस तरह भोग्य और भोक्ता यहां एक ही है।' सर्वेश्वरवाद का यह तत्त्व यहां बताया है।

' अहं अन्नं, अहं अन्नादः ' ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् (३.१०.५) में कहा है। पाठक इस वेदवचन को उपनिषद् के साथ तुलना कर के देखें।

' सूर्यचक्र, कालचक्र ' का वर्णन इस के आगे है। इस वर्णन के मंत्र तीन हैं। ' कालचक्र ' के विषय में विचार इस लेखमाला के १२ वें लेख में विस्तारपूर्वक किया है, वही भाव पाठक यहां देखें। काल एक और अखण्ड है, उस के ऋतु, मास, अयन आदि विभाग कल्पित हैं। यद्यपि ये व्यवहार के साधक हैं, तथापि उन के कारण काल की अखंडितता नष्ट नहीं होती। यह मुख्य बात यहां बतानी है।

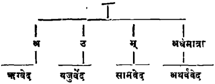
' रथके सात घोडे ' सूर्यकिरण में सात रंग हैं, उन में पांच रंग स्पष्ट हैं और आजूबाजू के दो अस्पष्ट हैं। इस तरह सात रंग सूर्य के श्वेत किरण में हैं। सात रंग परस्पर विभिन्न होते हुए भी वे अकेले श्वेत रंग में समत्व पाये हैं। एक श्वेत रंग के पृथक्करण से सात रंग होते हैं, और सात रंगों के मेल से एक श्वेत रंग बनता है, यह बात सूर्य के रथ के सात घोडों के वर्णन से बतायी है। एक आत्मा से पञ्चभूत, अहंकार और बुद्धि ये सात तत्त्व का होना और सात तत्त्वों का आत्मा में लीन होना, यह इस वर्णन से स्पष्ट दीखता है। यह बात ८ वें मंत्र में पाठक देख सकते हैं। ' यह सब मिलकर एक ही होता है ' यह ११ वे मंत्र का कथन इस आठवें मंत्र में उदाहरण सहित दर्शाया है।

' एकके तीन देव ' का वर्णन करनेवाले आगे सात मंत्र हैं। सूर्य, विद्युत्, अग्नि ये आग्नेय तत्त्व के तीन देव हैं, परन्तु ये एक ही अग्नितत्त्व के रूप हैं। सूर्य से ही अन्तरिक्ष के मेघमण्डल में विद्युत् संचार करती है और वह भूमिपर गिरने से अग्नि उत्पन्न होती है। सूर्य-किरण मणि में से गुजर कर शुष्क घास पर डालने से भी सूर्यकिरण का रूपान्तर अग्नि में होता है। इस तरह द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्ष की विद्युत् और भूलोक का अग्नि ये तत्त्वतः एक ही हैं। इसलिये मंत्र में कहा है कि यह सब वर्णन अकेले आदित्य का ही वर्णन है (मंत्र १७)।

अन्तरिक्ष में वायु, विद्युत्, चन्द्र, रुद्र आदि देवगण हैं। ये सभी सूर्य केही रूप हैं और सब देवों का एकीकरण सूर्य में ही होता है। ज्येष्ठ ब्रह्म से सूर्य, सूर्य से विद्युत् और अग्नि होते हैं। इस तरह ज्येष्ठ ब्रह्म से सब देव उत्पन्न होते हैं, अर्थात् ज्येष्ठ ब्रह्म ही सब देवों के रूप धारण किये खडा है।

सब मंत्रों के वर्णन में यह भाव प्रमुख है। अरणीद्वारा मन्थन से उत्पन्न होनेवाले अग्नि का वर्णन २० वें मन्त्र में है। लकडी में व्याप्त अग्नि का प्रकटीकरण इस तरह होता है। लकडी में भी सूर्य की ही उष्णता संग्रहित होती है, जो अग्निरूप से प्रकट होती है। अर्थात् ये सभी देव सूर्य के ही रूप हैं, यह सदैक्यवाद की घोषणा ये सब मन्त्र कर रहे हैं। इन मंत्रों में जो अन्य वर्णन है, उस का हमारे प्रस्तुत विषय से संबंध नहीं है, अतः सूत्ररूप मुख्य वर्णन का ही आशय हमने यहां दिया है।

' मन्त्र, छन्द और यज्ञ ' विषय का वर्णन करनेवाले आगे दो मन्त्र हैं। जिस मन्त्र से यज्ञ प्रारंभ किया जाता है, जो यज्ञ में बोला जाता है और जिस से यज्ञ की समाप्ति होती है, वह मन्त्र ओंकार है, इसका तत्त्व यह है।



इस तरह ' अ ' कार से ' ओंकार ' और ओंकार से सब देव होते हैं। सब वाणी में अकार ही नाना अक्षरों के रूप लिये रहा है, जैसा ज्येष्ठ ब्रह्म विश्वरूप बना है। यह दोनों की समानता पाठक देखें।

' फलश्रुति ' का वर्णन अन्तिम मंत्र में है। सविता सब विश्व का उत्पादन अपने में से करता है, इस के ये सत्य नियम इसी में स्थायी रहते हैं। ज्येष्ठ ब्रह्म से सविता और सविता से सब विश्व की उत्पत्ति होती है। इसी तरह सब वस्तुओं का संगमन एक देव में होता है, वही ज्येष्ठ ब्रह्म है। जो यह तत्त्वज्ञान जानता है, वह इंद्र के समान युद्धों में विजेता होता है। वह निर्भय होता है और विजयी होता है।

सर्वेश्वरवाद अथवा सदैक्यवाद का तत्त्वज्ञान ऐसा गंभीर तत्त्वज्ञान है और वेद का यही ज्ञानसर्वस्व है। पाठक इस का ग्रहण करें।

वेदका रहस्य।

[अध्याय १८]

पितरों की विजय।

[लेखक- श्रीअरविंद; अनुवादक- स्वामी अभयदेवजी]

महान् ऋषि वामदेवके द्वारा दिव्य ज्वाला को, द्रष्टृ-संकल्प (Seer-will) को, 'अग्नि' को संबोधित किये गये सूक्त ऋग्वेद के उन सूक्तों में से हैं, जो कि, अधिक से अधिक रहस्यवादी उद्गारवाले हैं और ये सूक्त यद्यपि अपने अभिप्रायों में बिलकुल सरल हैं, यदि हम ऋषियोंद्वारा प्रयुक्त की गई अर्थपूर्ण अलंकारों की पद्धतिको दृढतापूर्वक अपने मनोंमें बैठा लेवें, तथापि यदि हम ऐसा न कर सकें, तो ये हमें बेशक ऐसे प्रतीत होंगे मानो ये केवल शब्दरूपकों की चमकदमकवाली एक धुन्धमात्र हैं, जो कि हमारी समझ को चक्कर में डाल देती हैं। पाठक को प्रति क्षण उस नियत-संकेत-पद्धति को काममें लाना होता है जो कि, वेदमन्त्रों के आशय को खोलने की चावी है; नहीं तो वह उतना ही अधिक घाटे में रहेगा, जितना कि वह रहता है जो कि तत्त्वज्ञान-शास्त्र को पढना चाहता है, पर तो भी जिसने उन दार्शनिक पारिभाषिक-संज्ञाओं के अभिप्राय को अच्छी प्रकार नहीं समझा है, जो कि उस शास्त्र में सतत रूप से प्रयुक्त होती हैं, अथवा हम यह कहें कि, जितना वह रहता है जो कि, पाणिनि के सूत्रों को पढने का यत्न करता है पर यह नहीं जानता कि व्याकरणसम्बन्धी संकेतों की वह विशेष पद्धति क्या है जिस में कि वे सूत्र प्रकट किये गये हैं। तो भी आशा है वैदिक रूपकों की इस पद्धति पर पहले ही हम पर्याप्त प्रकाश प्राप्त कर चुके हैं, जिस से कि वामदेव हमें मानवीय पूर्वपितरों के महाकार्यके विषयमें क्या कहना चाहता है, इसे हम काफी अच्छी तरह समझ सकते हैं।

प्रारंभ में अपने मनों में इस बात को बैठा लेनेके लिए कि, वह महाकार्य क्या था, हम उन स्पष्ट तथा यथेष्ट सूत्र-वचनों को अपने सामने रख सकते हैं, जिन में कि पराशर शाक्त्यने उन विचारों को प्रकट किया है। 'हमारे पितरोंने अपने शब्दोंद्वारा (उक्थैः) अचल तथा दृढ स्थानों को तोडकर खोल दिया, तुम अंगिरसोंने अपनी आवाज से (रवेण) पहाडी को तोडकर खोल दिया; उन्होंने हमारे अन्दर महान् द्यौ के लिये मार्ग बना दिया; उन्होंने दिन को, स्वः को और दर्शन (Vision) को और जगमगानेवाली गौओं को पा लिया।'

चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः॥ (ऋ. १.७१.२) ×

यह मार्ग, वह कहता है, वह मार्ग है जो कि, अमरता की ओर ले जाता है; 'उन्होंने जो कि उन सब वस्तुओं के अन्दर जा घुसे थे, जो वस्तुयें यथार्थ फल को देनेवाली हैं, अमरता की तरफ ले जानेवाले मार्गको बनाया; महत्ता के द्वारा तथा महान् (देवों) के द्वारा पृथिवी उन के लिये विस्तीर्ण होकर खडी हो गई, माता अदिति अपने पुत्रों के साथ उन्हें थामने के लिये आई (या, उसने अपने आपको प्रकट किया) ' (ऋ. १.७२.९ ॐ) कहनेका अभिप्राय यह है कि, भौतिक सत्ता ऊपर के असीम स्तरोंकी महत्ता

× यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है-
वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः॥

ॐ आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः॥

से आविष्ट होकर तथा उन महान् देवताओं की शक्ति से आविष्ट होकर जो कि, उन स्तरों पर शासन करती है, अपनी सीमाओं को तोड डालती है, प्रकाश को लेने के लिये खुल जाती है और इस अपनी नवीन विस्तीर्णता में वह असीम चेतना, 'माता अदिति,' द्वारा तथा उस के पुत्रों, परमदेव की दिव्य शक्तियों द्वारा थामी जाती है। यह है वैदिक अमरता।

इस प्राप्ति तथा विस्तीर्णता के उपाय भी अति संक्षेप से पराशरने अपनी रहस्यमयी, पर फिर भी स्पष्ट और हृदय-स्पर्शी शैली में प्रतिपादन कर दिये हैं। उन्होंने सत्य को धारण किया, उन्होंने इसके विचार को समृद्ध किया; तभी वस्तुतः उन्होंने, अभीप्सा करती हुई आत्माओंने (अर्यः) इसे विचार में धारण करते हुए, अपनी सारी सत्ता में फैले हुए इसे थामा।'

दधन्नृतं धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्राः (ऋ. १.७१.३)।

'विभृत्राः' में जो अलंकार है, वह सत्य के विचारको हमारी सत्ता के सारे तत्त्वों में थामनेको सूचित करता है, अथवा यदि इसे सामान्य वैदिक रूपक में रखें, तो इस रूप में कह सकते हैं कि, यह सात-सिरोंवाले विचार को सारे सात जलों के अन्दर धारण करने को, अप्सुधियं धिषे, सूचित करता है, जैसा कि अन्यत्र इसे हम लगभग ऐसी ही भाषा में प्रकट किया गया, देख चुके हैं; यह इस अलंकारमय वर्णन से स्पष्ट हो जाता है जो कि तुरन्त इस के बाद इसी ऋचा के उत्तरार्ध में आया है,–' जो कर्म के करनेवाले हैं, वे तृष्णारहित (जलों) की तरफ जाते हैं, जो जल आनन्द की तुष्टिद्वारा दिव्य जन्मों को बढानेवाले हैं,'

अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयसा वर्धयन्तीः।

तुष्टि पाई हुई सप्तविध सत्य-सत्ता में रहनेवाली सप्तविध सत्य-चेतना आनन्द को पाने के लिये जो आत्मा की भूख है, उसे शान्त करने के द्वारा हमारे अन्दर दिव्य जन्मों को बढाती है, यह है अमरता की वृद्धि। यह है व्यक्तिकरण, उस दिव्य सत्ता, दिव्य प्रकाश और दिव्य सुख के त्रैत का जिसे कि बाद, में चल कर वेदान्तियोंने सच्चिदानन्द कहा है।

सत्य के इस विराट् फैलाव के, तथा हमारे अन्दर सब दिव्यताओं की उत्पत्ति, तथा क्रिया के (जो हमारे वर्तमान सीमित मर्त्य जीवन के स्थान पर हमें व्यापक और अमर जीवन प्राप्त हो जाने का आश्वासन दिलानेवाले हैं) अभिप्राय को पराशरने १.६८ में और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। 'अग्नि,' दिव्य द्रष्टा-संकल्प (Seer-will) का वर्णन इस रूप में किया गया है कि, वह द्युलोक में आरोहण करता है तथा उस सब में से जो कि स्थिर है और उस सब में से जो कि चचल है, रात्रिओं के पर्दे को समेट देता है, 'जब वह ऐसा एक देव हो जाता है कि, अपनी सत्ता की महिमा से इन सब दिव्यताओं को चारों ओर से घेर लेता है। + '

"तभी वस्तुतः सब संकल्प को (या कर्म को) स्वीकार करते हैं और उस के साथ संसक्त हो जाते हैं, जब कि हे देव! तू शुष्कता में से (अर्थात् भौतिक सत्ता में से, मरुभूमि में से, जैसा कि कहा गया है, जो कि सत्य की धाराओं से असिञ्चित है,) एक सजीव आत्मा के रूप में पैदा हो जाता है, सब अपनी गतियोंद्वारा सत्य तथा अमरता को अधिगत करते हुए दिव्यता का आनन्द लेते हैं ×।

भजन्त विश्वे देवत्वन्नाम, ऋतं सपंतो अमृतमेवैः।

सत्य की प्रेरणा, सत्य का विचार एक व्यापक जीवन हो जाता है, (या सारे जीवन को व्याप्त कर लेता है) और इस में सब अपनी क्रियाओं को पूर्ण करते हैं।"

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीति र्विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः। (ऋ. १-६८-५)

और वेद की उस दुर्भाग्यपूर्ण भ्रांत व्याख्या के शिकार होकर जिसे कि, यूरोपियन पाण्डित्यने आधुनिक मन पर थोप रखा है, कहीं हम अपने मन में यह विचार न

+ "परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद्देवो देवानां महित्वा"। (ऋ. १-६८-१)

× "आदित्ते विश्वे क्रतुं जुषन्त शुष्काद्यद्देव जीवो जनिष्ठाः।
भजन्त विश्वे, देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो, अमृतमेवैः। (ऋ. १-६८-२)

बना लें कि, ये पंजाब की ही सात भूस्थित नदियां हैं, जो कि, मानव पूर्वपितरों के अतिलौकिक महाकार्य में आती हैं, इस के लिये हमें ध्यान देना चाहिये कि, पराशर अपनी स्पष्ट और प्रकाशकारिणी शैली में इन सात नदियों के बारे में क्या कहता है। "सत्य की प्रीणयित्री गौओंने ('धेनवः,' एक रूपक है, जो कि नदियों के लिये प्रयुक्त किया गया है, जब कि, 'गावः' या 'उस्राः' शब्द सूर्य की प्रकाशमान गौओं को प्रकट करता है,) उस की पालना की, सुखमय ऊधसों के साथ रंभाती हुई उन्होंने द्यौ में आनन्द किया; सुविचार को सर्वोच्च (लोक) से वर रूप में प्राप्त कर के नदियां पहाडी के ऊपर विस्तीर्ण होकर तथा समता के साथ प्रवाहित हुई,"

ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः, स्मदूध्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः। परावतः सुमतिं भिक्षमाणा, वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम् ॥ (ऋ १.७३.६)

और १.७२.८ में एक ऐसी शब्दावलि में उन का वर्णन करता हुआ जो कि दूसरे सूक्तों में नदियों के लिये प्रयुक्त हुई है, वह कहता है; "विचार को यथार्थ रूप से रखनेवाली, सत्य को जाननेवाली द्यौ की सात शक्तिशाली (नदियों) ने आनन्द के द्वारों को ज्ञान में प्रत्यक्ष किया, 'सरमा' ने जगमगाती गौओं के दृढस्त्र को, विस्तार को पा लिया; उसके द्वारा मानुषी प्रजा आनन्द भोगती है।"

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी, रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्। विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं, येना नु कं मानुषी भोजते विट् ॥

स्पष्ट ही ये पंजाब की नदियां नहीं हैं, बल्कि आकाश (द्यौ) की नदियां हैं, सत्य की धारायें हैं, ❀ सरस्वती जैसी देवियां हैं, जो कि ज्ञान में सत्य से युक्त हैं और जो इस सत्य के द्वारा मानुषी प्रजा के लिये आनन्द के द्वारों को खोल देती हैं। यहां भी हम वही देखते हैं, जिस पर कि, मैं पहले ही बल दे चुका हूं कि, गौओं के छूट निकाले जाने में तथा नदियों के बह निकलने में एक गहरा सम्बन्ध है; ये दोनों एक ही कार्य के, महाकार्य के अंगभूत हैं, और वह है, मनुष्योंद्वारा सत्य तथा अमृत की प्राप्ति का महाकार्य, ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः।

अब यह पूर्णतया स्पष्ट है कि, अंगिरसों का महाकार्य है, सत्य तथा अमरता की विजय; 'स्वः' जिसे कि महान् लोक, बृहद् द्यौः, भी कहा गया है, सत्य का लोक है जो कि, सामान्य द्यौ और पृथिवी से ऊपर है, जो द्यौ तथा पृथिवी इस के सिवाय और कुछ नहीं हो सकते कि, ये सामान्य मानसिक तथा भौतिक सत्ता हों; बृहद् द्यौ का मार्ग, सत्य का मार्ग जिसे कि, अंगिरसोंने रचा है और सरमाने जिस का अनुसरण किया है, वह मार्ग है जो कि, अमरता की तरफ ले जाता है, अमृतत्वाय गातुम्; उषा का दर्शन (केतु), अंगिरसोंद्वारा जीता गया दिन, वह दर्शन है, जो कि सत्य-चेतना का अपना स्वकीय है; सूर्य तथा उषा की जगमगाती हुई गौएं जो कि, पणियों से जबर्दस्ती छीनी गई हैं, इसी सत्य-चेतना की ज्योतियां हैं, जो कि, सत्यके विचार, ऋतस्य धीतिः को रचने में सहायक होती हैं, जो सत्य का विचार अयास्य के सात-सिरों-वाले विचार में पूर्ण होता है, वेद की रात्रि मर्त्य सत्ता की अन्धकारावृत चेतना है, जिस में कि सत्य अवचेतन हुआ हुआ है, पहाडी की गुफा में छिपा हुआ है; रात्रि के इस अन्धकार में पडे हुए खोये सूर्य की पुन प्राप्ति का अभिप्राय है, अन्धकारपूर्ण अवचेतन अवस्था में से सत्य के सूर्य की पुनः प्राप्ति, और सात नदियों के भूमि की ओर अधःप्रवाह होने का मतलब होना चाहिये, हमारी सत्ता के सप्तगुण तत्त्व की उस प्रकार की बहिःप्रवाही क्रिया जैसी कि वह दिव्य या अमर सत्ता के सत्य में व्यवस्थित की जा चुकी है। इसी प्रकार, फिर पणि होने चाहियें वे शक्तियां जो कि सत्य को अवचेतन अवस्था में से बाहर निकलने से रोकती हैं और जो सतत रूप से इस (सत्य) के प्रकाशों को मनुष्य के पास से चुराने का प्रयत्न करती हैं और मनुष्य को फिर से रात्रि में डाल देती हैं और वृत्र वह शक्ति होनी चाहिये, जो कि सत्य की प्रकाशमान नदियों की स्वच्छन्द गति में बाधा डालती

❀ देखो कि, ऋ. १.३२.८ में हिरण्यस्तूप अंगिरस 'वृत्र' से मुक्त होकर आये हुए जलों का इस रूप में वर्णन करता है कि, वे "मन को आरोहण करते हैं," मनो रुहाणाः; और अन्यत्र वे इस रूप में कहे गये हैं कि, ये वे जल हैं, जो कि अपने अन्दर ज्ञान को रखते हैं, आपो विचेतसः।

है और उसे रोकती है, हमारे अन्दर सत्य की अन्तःप्रेरणा, ऋतस्य प्रेषा में बाधा पहुंचाती है, उस ज्योतिर्मयी अन्तः-प्रेरणा, ज्योतिर्मयीम् इषम्, में जो कि हमें रात्रि से पार करा के अमरता प्राप्त करा सकती है। और इस के विपरीत, देवता, 'अदिति' के पुत्र, होने चाहियें, वे प्रकाश-मयी दिव्य शक्तियां जो कि असीम चेतना 'अदिति' से पैदा होती हैं, जिन की रचना और क्रिया हमारी मानवीय तथा मर्त्य सत्ता के अन्दर आवश्यक है, जिस से कि हम विकसित होते-होते दिव्य रूप में, देवों की अवस्था (देवत्वम्) में परिणत हो जायं, जो कि अमरता की अवस्था है।

'अग्नि' सत्य-चेतनामय द्रष्टृ-संकल्प है, वह प्रधान देवता जो कि, हमें यज्ञ को सफलतापूर्वक करने में समर्थ बना देता है; वह यज्ञ को सत्य के मार्ग पर ले जाता है, वह संग्राम का योद्धा है, कर्म का अनुष्ठाता है और अपने अन्दर अन्य सब दिव्यताओंको ग्रहण किये हुए उस 'अग्नि' की हमारे अन्दर एकता तथा व्यापकता का होना ही अमरता का आधार है।

सत्य का लोक जहां कि, हम पहुंचते हैं, उस का अपना घर है तथा अन्य देवों का अपना घर है और वही मनुष्य के आत्मा का आन्तिम प्राप्तव्य घर है। और यह अमरता वर्णित की गई है, एक परम सुख के रूप में, असीम आत्मिक सम्पत्ति तथा समृद्धि की अवस्था, रत्न, रयि, राधस् आदि के रूप में; हमारे दिव्य घर के खुलने-वाले द्वार हैं आनन्द-समृद्धि के द्वार, रायो दुरः, वे दिव्य द्वार जो कि उन के लिये झूकते हुए सपाट खुल जाते हैं, जो सत्य को बढानेवाले (ऋतावृधः) हैं, और जिन द्वारों को हमारे लिये सरस्वतीने और इस की बहिनोंने, सात सरिताओंने, सरमाने खोजा है; इन द्वारों की तरफ और उस विशाल चरागाह (क्षेत्र) की तरफ जो कि विस्तीर्ण सत्य की निर्बाध तथा सम निःसीमताओं में है, बृहस्पति और इंद्र चमकीली गौओं को ऊपर की ओर ले जाते हैं।

इन विचारों को यदि हम स्पष्टतया अपने मनों में गढा लेवें, तो हम इस योग्य हो जायेंगे कि, वामदेव की ऋचाओं को समझ सकें, जो कि, उसी विचार-सामग्री को प्रतीकमयी भाषा में बार बार दोहराती हैं, जिसे कि, पराशरने अपेक्षाकृत अधिक खुले तौर पर व्यक्त कर दिया है। वह 'अग्नि' है, द्रष्टृ-संकल्प है, जिसे वामदेव के प्रारंभिक सूक्त संबोधित किये गये हैं। उसका इस रूप में स्तुतिगान किया गया है कि, वह मनुष्य के यज्ञ का बन्धु या निर्माता है, जो कि, मनुष्य को दर्शन (Vision) के प्रति, ज्ञान (केतु) के प्रति जागृत करता है, स चेतयन् मनुषो यज्ञ-बन्धुः। (ऋ. ४.१.९) ऐसा करता हुआ, "वह इस मनुष्य के द्वारोंवाले घरों में कार्यसिद्धि के लिये प्रयत्न करता हुआ निवास करता है; वह जो देव है, मर्त्य की कार्य-सिद्धि में साधन बनने के लिये आया है।"

स क्षेति अस्य दुर्यासु साधन् देवो मर्तस्य सध-नित्वमाप (४.१.९)।

वह क्या है, जिसे कि, यह सिद्ध करता है? यह अगली ऋचा हमें बताती है। यह 'अग्नि' जानता हुआ हमें अपने उस आनन्द की तरफ ले जाय, जिस का देवोंने आस्वादन किया है, जिसे कि, सब अमर्त्योंने विचारद्वारा रचा है और 'द्यौष्पिता' जो कि, जनिता है, सत्य का सिञ्चन कर रहा है।"

स तू नो अग्निर्नयतु प्रजानन्नच्छा रत्नं देवभक्तं यदस्य। धिया यद् विश्वे अमृता अकृण्वन् द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्॥ (ऋ. ४-१-१०)

यही है पराशरद्वारा वर्णित अमरता का परम सुख, जिसे कि अमर्त्य देवताओं की शक्तियोंने सत्य के विचार में तथा इस की अन्तःप्रेरणा में अपना कार्य कर के रचा है, और सत्य का सिञ्चन स्पष्ट ही जलों का सिञ्चन है, जैसा कि 'उक्षन्' शब्द से सूचित होता है, यह वही है, जिसे कि पराशरने पहाडी के ऊपर सत्य की सात नदियों का समतायुक्त प्रसार कहा है।

वामदेव अपने कथन को जारी रखता हुआ आगे हमें इस महान्, प्रथम या सर्वोच्च शक्ति, 'अग्नि' के जन्म के बारेमें कहता है, जो जन्म सत्यमें होता है, इसके जलोंमें, इस के आदिम घर में होता है। 'प्रथम वह (अग्नि) पैदा हुआ जलोंके अन्दर, बृहत् लोक (स्वः) के आधारके अन्दर, इसके गर्भ (अर्थात् इसके आसन-स्थान और जन्म-स्थान, इस के आदिम घर) के अन्दर; वह बिना सिर और पैरके

था, अपने दो अन्तों को छिपा रहा था, वृषभ की मांद में अपने आप को कार्य में लगा रहा था। * ' वृषभ है देव या पुरुष, उस की मांद है सत्य का लोक, और अग्नि जो कि, ' दृढ़-संकल्प ' है, सत्य-चेतना में कार्य करता हुआ, लोकों को रचता है; पर वह अपने दो अन्तों को, अपने सिर और पैरों को, छिपाता है; कहने का अभिप्राय यह है कि, उस के व्यापार पराचेतन तथा अवचेतन (Super conscient and subconscient) के बीच में छिपा करते हैं, जिन में कि उस की उच्चतम और निम्नतम अवस्थायें क्रमशः छिपी रहती हैं, एक तो पूर्ण प्रकाश में, दूसरी पूर्ण अन्धकार में। वहां से फिर वह प्रथम और सर्वोच्च शक्ति के रूप में आगे प्रस्थान करता है और सुख की सात शक्तियों, सात प्रियाओं, की क्रिया के द्वारा वह वृषभ या देव के यहां पैदा हो जाता है। ' प्रकाशमय ज्ञानद्वारा जो कि, प्रथमशक्ति के रूप में आया था, वह (अग्नि) आगे गया और सत्य के स्थान में, वृषभ की मांद में, वांछनीय, युवा, पूर्ण शरीरवाला, अतिशय जगमगाता हुआ, वह पहुंच गया; सात प्रियाओंने उसे देव के यहां पैदा कर दिया * । '

इसके बाद ऋषि आता है, मानवीय पितरोंके महाकार्य की ओर, अस्माकमत्र पितरो मनुष्या, अभिप्रसेदुर्ऋतमाशुषाणाः यहां हमारे मानव पितर सत्य को खोजना चाहते हुए इस के लिये आगे बढे; अपने आवरक कारागार में बन्द पड़ी हुई चमकीली गौओं को, चट्टान के बाडे में बन्द अच्छी दुधार गौओं को वे ऊपर की तरफ (सत्य की ओर) हांक ले गये, उषाओंने उन की पुकार का उत्तर दिया ×। १३। उन्होंने पहाडी को विदीर्ण कर दिया और उन्हें (गौओं को) चमका दिया; अन्य जो कि उन के चारों तरफ थे, इन सबने उन के इस (सत्य) को खुले तौरपर उद्घोषित कर दिया; पशुओं को हांकनेवाले उन्होंने कर्मोंके कर्ता (अग्नि) के प्रति स्तुति-गीतों का गान किया, उन्होंने प्रकाश को पा लिया, वे अपने विचारों में जगमगा उठे (अथवा, उन्होंने अपने विचारोंद्वारा कार्य को पूर्ण किया ※)। १४। उन्होंने उस मन से जो कि प्रकाश की (गौओंकी, गव्यता मनसा) खोज करता है, उस दृढ और निबिड पहाडी को तोड डाला, जिसने कि प्रकाशमयी गौओं को घेर रखा था; इच्छुक आत्माओंने दिव्य शब्दद्वारा, वचसा दैव्येन, गौओं से भरे हुए दृढ बाडे को खोल दिया +। १५। ' ये अंगिरसों के कथानक के सामान्य अलंकारिक वर्णन हैं, पर अगली ऋचामें वामदेव अपेक्षाकृत और भी अधिक रहस्यमयी भाषा का प्रयोग करता है। ' उन्होंने प्रीणयित्री गौ के प्रथम नाम को मन में धारण किया, उन्होंने माता के त्रिगुणित सात उच्च (स्थानों) को पा लिया; माता गायोंने उसे जान लिया और उन्होंने इस का अनुसरण किया, प्रकाशरूपी गौ की शानदार प्राप्ति (या शोभा) के द्वारा एक अरुण वस्तु आविर्भूत हुई। '

> ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन्। तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः। (ऋ. ४.१.१६)

यहां माता है, ' अदिति, ' असीम चेतना, जो कि ' धेनु ' या प्रीणयित्री गौ है, जिस के साथ अपने सप्तगुणप्रवाह के रूप में सात सरितायें हैं, साथ ही वह प्रकाश की ' गौ ' भी है, जिस के साथ उषायें हैं, जो

---

* स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ताऽऽयोयुवानो वृषभस्य नीळे॥ (ऋ. ४ १.११)

* प्र शर्ध आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासोऽजनयन्त वृष्णे॥ (ऋ. ४.१.१२)

× अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः॥ (ऋ. ४.१.१३)

※ ते मर्मृजत ददृवांसो अद्रिं तदेषामन्ये अभितो वि वोचन्।
पश्वयन्त्रासो अभि कारमर्चन् विदन्त ज्योतिश्चकृपन्त धीभिः॥ (ऋ. ४.१.१४)

+ ते गव्यता मनसा दृध्रमुब्धं गा येमानं परि षन्तमद्रिम्।
दृळ्हं नरो वचसा दैव्येन व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः॥ (ऋ. ४.१.१५)

※

कि उस के शिशुओं के रूप में हैं; वह अरुण वस्तु है, दिव्य उषा और गायें या किरणें हैं, उस के खिलते हुए प्रकाश । जिस के त्रिगुणित सात परम स्थान हैं, जिन्हें कि उषायें या मानसिक प्रकाश जानते हैं और उन की ओर गति करते हैं, उस माता का प्रथम नाम होना चाहिये परम देव का नाम या देवत्व, जो देव असीम सत्ता है और असीम चेतना है और असीम सुख है, और तीन आसन स्थान हैं, तीनं दिव्य लोक जिन्हें कि इस से पहले इसी सूक्त में अग्नि के तीन उच्च जन्म कहा ⊛ है, जो कि पुराणों के ' सत्य, ' 'तपस्' और 'जन' हैं, जो कि देव की इन तीन असीमताओं के अनुरूप हैं और इन में से प्रत्येक अपने-अपने तरीके से हमारी सत्ता के सप्तगुण-तत्व को पूर्ण करता है, इस प्रकार हम अदिति के त्रिगुणित सात स्थानों की श्रेणियां पाते है, जो कि सत्य की दिव्य उषा में से खुलकर अपनी सम्पूर्ण शोभा में प्रकट हो गई हैं × । इस प्रकार हम देखते हैं कि, मानवीय पितरों द्वारा की गई, प्रकाश तथा सत्य की उपलब्धि भी एक आरोहण है, जो कि, उच्च तथा दिव्य पद की अमरता की तरफ होता है, सर्वस्रष्टी असीम माता के प्रथम नाम की ओर होता है, इस आरोहण करनेवाली सत्ता के लिये उस (माता) के जो त्रिगुणित सात उच्च पद हैं, उन की ओर होता है और सनातन पहाडी (अद्रि) के सर्वोच्च सम-प्रदेशों (सानु) की ओर होता है ।

यह अमरता वह आनन्द है, जिस का देवोंने आस्वादन किया है, जिस के विषय में वामदेव हमें पहले ही बतला चुका है कि, जो वह वस्तु है, जिसे कि, ' अग्नि ' को यज्ञद्वारा सिद्ध करना है, यह वह सर्वोच्च सुख है, जो (ऋ.१.२०.७) के अनुसार अपने त्रिगुणित सात आनन्दोंसे युक्त है । क्योंकि आगे वह कहता है; " अन्धकार नष्ट हो गया, इस का आधार हिल गया; द्यौ चमक उठा (रोचत द्यौः, अभिप्राय प्रतीत होता है, स्वः के तीन प्रकाशमय लोकों, दिवो रोचनानि, की अभिव्यक्ति से), दिव्य उषा का प्रकाश ऊपर उठा; सूर्य (सत्य के) विस्तीर्ण क्षेत्रों में प्रविष्ट हुआ, मर्त्यों के अन्दर सरल तथा कुटिल वस्तुओं को देखता हुआ + । १७ । इस के पश्चात् सचमुच वे जाग गये और वे (सूर्यद्वारा किये गये कुटिल से सरल के, अनृत से सत्य के पार्थक्यद्वारा विशेष रूप से देखने लगे तभी वस्तुतः उन्होंने उन के अन्दर उस सुख को धारा जो कि द्युलोक में आस्वादन किया गया है, रत्नं धारयन्त द्युभक्तम् । (हम चाहते हैं कि) सब के सब देव हमारे सब घरों में होवें, हे मित्र, हे वरुण, वहां हमारे विचार के लिये सत्य होवे × । " विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा, मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु ॥१८॥ यह स्पष्ट वही विचार है, जो कि पराशर शाक्त्यद्वारा इस की अपेक्षा भिन्न भाषा में व्यक्त किया जा चुका है, अर्थात् सत्य के विचार और प्रेरणाद्वारा सारी सत्ता की अभिव्याप्ति हो जाना और उस विचार तथा प्रेरणा में सब देवत्वों का व्यापार होने लगना, जिस से कि, हमारी सत्ता के अंग अंग में दिव्य सुख और अमरता का सृजन हो जाये ।

सूक्त समाप्त इस प्रकार होता है; ' मैं अग्नि के प्रति शब्द को बोल सकूं, जो अग्नि विशुद्ध रूप में चमक रहा है, जो हवियों का पुरोहित (होता) है, जो यज्ञ में सब से बडा है, जो सब को हमारे पास लानेवाला है, वह दोनों को हमारे लिये निचोड देवे, प्रकाश की गौओं के पवित्र ऊधस् को और आनन्द के पौदे (सोम) के पवित्री-

---

⊛ देखो मन्त्र ७,- " त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः । "

× इसी विचार को मेधातिथि काण्वने (ऋ १ २०.७) में दिव्य सुखके त्रिगुणित सात आनन्दों, रत्नानि त्रिः सप्तानि के रूप में व्यक्त किया है, अथवा यदि और अधिक शाब्दिक अनुवाद को लें, तो इस रूप में कि आनन्द जो अपनी सात-सात की तीन श्रेणियों में है, जिन में से प्रत्येक को ऋभु अपने पृथक्-पृथक् तथा पूर्ण रूप में प्रकट कर देते हैं, एकमेकं सुशस्तिभिः ।

\+ नेशत् तमो दुधितं रोचत द्यौरुद् देव्या उषसो भानुरर्त ।
आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्राँ ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ॥ (ऋ. ४.१.१७)

× आदित् पश्चा बुबुधाना व्यख्यन्नादिद् रत्नं धारयन्त द्युभक्तम् ।
विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु ॥ (ऋ. ४.१.१८)

घृत भोजन को जो कि सर्वत्र परिषिक्त हुआ हुआ है ॐ । १९ । वह यज्ञ के सब अधिपतियों की (देवों की) असीम सत्ता (अदिति) है और सब मनुष्यों का अतिथि है; (हम चाहते हैं कि) अग्नि जो अपने अन्दर देवों की वृद्धिशील अभिव्यक्ति को स्वीकार करता है, जन्मों को जाननेवाला है, सुख का देनेवाला होवे ×। २० ।'

चतुर्थ मण्डल के दूसरे सूक्त में हम बहुत ही स्पष्ट तौर पर और अर्थसूचक रूप से सात ऋषियों की समरूपता को पाते हैं जो ऋषि दिव्य अंगिरस हैं तथा मानवीय पितर हैं। उस संदर्भ से पहले ४.२ ११ से १४ तक ये चार ऋचाएं आती हैं जिन में कि सत्य तथा दिव्य सुख की अन्वेषणा का वर्णन है। ' जो ज्ञाता है वह ज्ञान तथा अज्ञान का, विस्तृत पृष्ठों का तथा कुटिल पृष्ठों का जो मर्त्यों को अन्दर बन्द करते हैं पूर्णतया विवेक कर सके और हे देव, संतान में सुफल होनेवाले सुख के लिये ' दिति ' को हमें दे डाल और ' अदिति ' की रक्षा कर ॐ । ' यह ग्यारहवीं ऋचा अपने अर्थ में बड़ी ही अद्भुत है। वहां हम ज्ञान तथा अज्ञान की विरोधिता पाते हैं जो कि वेदान्त में मिलती है; और ज्ञानकी समता दिखायी गई है विशाल खुले पृष्ठों से जिन का कि, वेद में बहुधा संकेत आता है; ये वे विशाल पृष्ठ हैं जिनपर कि वे आरोहण करते हैं जो कि, यज्ञ में श्रम करते हैं और वे वहां अग्नि को ' आत्मानन्दमय ' (स्वजेन्य) रूप में बैठा हुआ पाते हैं (५.७.५); वे हैं विशाल सत्ता जिस को कि वह अपने निजी शरीरके लिये रचता है (५.४.६), जो सम-विस्तार हैं, निर्बाध बृहत् हैं।

इसलिये यह देव की असीम सत्ता है जिसे कि हम सत्य के लोकपर पहुंच कर पाते हैं, और यह अदिति माता के त्रिगुणित सात उच्च स्थानों से युक्त है, 'अग्नि' के तीन जन्मोंसे युक्त है, जो अग्नि असीमके अन्दर रहता है, अनन्ते अन्तः (४.१.७)। दूसरी तरफ अज्ञान की तद्रूपता दिखाई गई है कुटिल या विषम पृष्ठों * से जो कि, मर्त्यों को अन्दर बन्द करती है और इसलिये यह सीमित विभक्त मर्त्य सत्ता है। इस के अतिरिक्त यह स्पष्ट है कि, यह अज्ञान ही अगले मन्त्रार्ध का दिति है, **दितिं च रास्व अदितिम् उरुष्य**, और ज्ञान है **अदिति**। ' दिति ' का, जिसे कि ' दानु ' भी कहा गया है, अर्थ है विभाग और बाधक शक्तियां या ' वृत्र ' हैं उस की सन्तानें जिन्हें कि, दानवः, दानवाः, दैत्याः, कहा गया है जब कि **अदिति** है वह सत्ता जो अपनी असीमता में रहती है और देवों की माता है।

ऋषि एक ऐसे सुख की कामना कर रहा है, जो कि सन्तान में सुफल हो, अर्थात् दिव्य कार्यों और उन के फलों में, और यह सुख प्राप्त किया जाना है। एक तो इस प्रकार कि, उन सब ऐश्वर्यों को जीता जाय, जिन्हें कि हमारी विभक्त मर्त्य सत्ताने अपने अन्दर रखा हुआ है, पर ' वृत्र ' तथा ' पणिओं ' ने जिन्हें हम से छीन लिया है, और दूसरे इस प्रकार कि, उन्हें असीम दिव्य सत्ता में उन ऐश्वर्यों के धारण को हमें अपनी मानवीय सत्ता की सामान्य प्रवृत्ति से, ' दनु ' या ' दिति ' के पुत्रों की अधीनता से बचना होगा, रक्षित रखना होगा। यह विचार स्पष्ट ही ईश उपनिषद् के उस विचार से मिलता है, जिस में यह

ॐ अच्छा वोचेय शुशुचानमग्निं होतारं विश्वभरसं यजिष्ठम्।
शुच्यूधो अतृणन्न गवामन्धो न पूतं परिषिक्तमंशोः ॥ ४.१.१९

× विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृळीको भवतु जातवेदाः ॥ ४।१।२०

ॐ चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ॥ ४.२.११ ॥

* चित्तिम् अचित्तिम् चिनवद् वि विद्वान् पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
' वृजिना ' का अर्थ है कुटिल, और यह वेद में अनृत की कुटिलता को सूचित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो कि सत्य की सरलता (ऋजुता) से विपरीत है, पर यहां कवि स्पष्ट ही अपने मन के अन्दर ' वृज् ' के धात्वर्थ को रखे हुए है, अर्थात् पृथक् करना, पर्दा डाल कर विभक्त करना और इस से बने विशेषण-शब्द ' वृजिन ' का यही शाब्दिक अर्थ है जो ' मर्तान् ' को विशेषित करता है।

कहा गया है कि, ज्ञान (विद्या) और अज्ञान (अविद्या) एकता और बहुरूपता ये दोनों एक ब्रह्म में निहित हैं, और इन का इस प्रकार धारण करना अमरता की प्राप्ति की शर्त है * ।

इस के बाद हम सात दिव्य द्रष्टाओं पर आते हैं। " अपराभूत द्रष्टाओंने द्रष्टा को (देव को, अग्नि को) कहा उसे मानव सत्ता के घरों के अन्दर धारण करते हुए; यहां से (इस शरीरधारी मानव सत्ता से) हे अग्ने! कर्म द्वारा अभीप्सा करता हुआ, (अर्यः) तू अपनी उन्नतिशील गतियों से उन्हें देख सके, जिन का कि तुझे दर्शन (Vision) प्राप्त करना चाहिये, जो कि सब से अतिक्रांत, अद्भुत हैं, (देव के देवत्व हैं)। "

कविं शशासुः कवयोऽदब्धा, निधारयन्तो दुर्यास्वायोः। अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान् पड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः ॥ (४.२.१२)

अब यह पुनः देवत्व के दर्शन (Vision) की यात्रा है। " तू, हे अग्ने! सर्वाधिक युवा शक्तिवाले! उस के लिये जो कि शब्द का गान करता है और सोम की हवि देता है और यज्ञ का आदेश देता है. (उस यात्रा में) पूर्ण पथ-प्रदर्शक है; उस आरोचमान के लिये जो कि कर्म को पूर्ण करता है, तू सुख को ला, जो सुख उस के आगे बढने के लिये बृहत् आनन्द से युक्त हो, कर्म के कर्ता को (या, मनुष्य को, चर्षणिप्राः) तुष्टि देनेवाला हो ।१३×

अब, ओ अग्ने! उस सब को जिसे कि हमने अपने हाथों से और अपने पैरों से और अपने शरीरों से रचा है, सच्चे विचारक (अंगिरस) इस रूप में कर देते हैं, मानो कि, यह तेरा रथ है, जो कि दो भुजाओं के (द्यौ और पृथिवी के, भुरिजों) व्यापार द्वारा बना है; सत्य को अधिगत करना चाहते हुए उन्होंने इस के प्रति अपने मार्ग को बना लिया है, (या इस सत्य पर वश प्राप्त किया है +) ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः ॥१४॥

अब उषा माता के सात द्रष्टा, (यज्ञ के) सर्वोत्कृष्ट विनियोक्ता, हम पैदा हो जायं, जो अपने आप में देव हैं; हम अंगिरस द्यौ के पुत्र बन जाय, पवित्र रूप में चमकते हुए हम धन-दौलत से भरपूर पहाडी को तोड डालें ‡ । १५।" यहां हम बहुत ही स्पष्ट रूपमें सात दिव्य द्रष्टाओं को इस रूप में पाते हैं कि वे विश्व-यज्ञ के सर्वोत्तम विधायक हैं और इस विचार को पाते हैं कि मनुष्य ये सात द्रष्टा " बन जाता है, " अर्थात् वह उन द्रष्टाओं को अपने अन्दर रचता है और स्वयं उनके रूप में परिणत हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह द्यौ और पृथिवी तथा अन्य देव बन जाता है, अथवा जैसा कि इसे दूसरे रूप में यों प्रतिपादित किया गया है कि, वह अपनी स्वकीय सत्ता में दिव्य जन्मों को पैदा कर लेता है, रच लेता है या निर्मित कर लेता है, (जन, कृ, तन्)।

आगे इस रूप में मानवीय पितरों का उदाहरण दिया गया है कि, उन्होंने इस महान् " बन जाने " के और इस महाप्राप्ति व महाकार्य के आदिम आदर्श (नमूने) को उपस्थित किया है। " अब भी, हे अग्ने! जैसे कि, हमारे उत्कृष्ट पूर्व पितरोंने, सत्य को अधिगत करना चाहते हुए, शब्द को अभिव्यक्त करते हुए, पवित्रता और प्रकाश की ओर यात्रा की थी; पृथिवी को (भौतिक सत्ता को) तोड-कर उन्होंने जो कि अरुण थीं, उन को (उषाओं को, गौओं को) खोल दिया। १६। ** पूर्ण कर्मोंवाले तथा पूर्ण प्रकाशवाले, दिव्यताओं को पाना चाहते हुए, वे देव, जन्मों को लोहे के समान घडते हुए (या दिव्य जन्मों को लोहे के समान घडते हुए), ' अग्नि ' को एक विशुद्ध ज्वाला बनाते हुए, ' इन्द्र ' को बढाते हुए, वे प्रकाश

---

* विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयꣳ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ईश. ११ ॥

× त्वमग्ने वाघते सुप्रणीतिः सुतसोमाय विधते यविष्ठ। रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथुश्चन्द्रमवसे चर्षणिप्राः ॥ (४.२.१३)

+ अधा ह यद् वयमग्ने त्वाया पड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः ॥ (४.२.१४)

‡ अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाऽद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः ॥ (४.२.१५)

** अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ (४.२.१६)

के विस्तार को (गौओं के विस्तार को, गव्यम् ऊर्वम्) पहुंच गये और उन्होंने उसे पा लिया ।१७ ×। जो कि अन्दर देवों के जन्म हैं, वे दर्शन (Vision) में अभिव्यक्त हो गये, मानो ऐश्वर्यों के खेत में गौओं के झुण्ड हों, जो शक्तिशालिनः (उन देवोंने दोनों कार्य किये) मर्त्यों के विशाल सुखभोगों को (या उन की इच्छाओं को) पूर्ण किया और उच्चतर सत्ता की वृद्धि के अभीप्सु के तौर पर भी कार्य किया—

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवानां यज्जनिमान्त्युग्र । मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्, वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ (ऋ. ४.२.१८)

स्पष्ट ही यह इस द्विविध विचार की पुनरुक्ति है, जो कि, दूसरे शब्दों में रख दी गई है कि दितिके ऐश्वर्यों को धारण करना, तो भी अदिति को सुरक्षित रखना। "हमने तेरे लिये कर्म किया है, हम कर्मों में पूर्ण हो गये हैं, खुली-चमकती हुई उषाओंने सत्य में अपना घर कर लिया है, (या सत्य के चोगे से अपने आप को आच्छादित कर लिया है,) अग्नि की परिपूर्णता में और उस के बहुगुणित आनन्द में, अपनी संपूर्ण चमक से युक्त जो देव की चमकती हुई हुई आंख है, उस में (उन्होंने अपना घर बना लिया है) ⁂ ।१९।"

४.२.११ ऋचा में फिर अंगिरसों का उल्लेख आया है, और जो वर्णन इस ऋचा तक हमें ले जाते हैं उन में से कुछ विशेष ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि इस बात को जितना दोहराया जाय उतना थोडा है कि, वेद की कोई भी ऋचा तब तक भली प्रकार नहीं समझी जा सकती जब तक कि इस का प्रकरण न मालूम हो, सूक्तके विचार में उस का क्या स्थान है यह न मालूम हो, उस के पहले और पीछे जो कुछ वर्णन आता है वह सब न मालूम हो। सूक्त प्रारंभ होता है इस प्रकार कि, मनुष्यों को पुकार कर कहा गया है कि, वे उस 'अग्नि' को रचें जो कि सत्य में यज्ञ करता है, उसे उस के सुनहरी प्रकाश के रूप में रचें (हिरण्यरूपम्, हिरण्य सर्वत्र सत्य के सौर प्रकाश, ऋतं ज्योतिः, के लिये प्रतीक के तौर पर आया है) इस से पहले कि अज्ञान अपने आपको रच सके, पुरा तनयित्नोरचित्तात् (४-३-१)।

इस अग्निदेव को कहा गया है कि, वह मनुष्यके कर्म के प्रति और इस के अन्दर जो सत्य है उस के प्रति जागृत हो, क्योंकि वह स्वयं 'ऋतचित्' है, सत्य-चेतनामय है, विचार को यथार्थ रूपसे धारण करनेवाला है, ऋतस्य बोधि ऋतचित् स्वाधीः (४-३-४)— क्योंकि सारा अनृत केवल सत्य का एक अयथार्थ धारण ही है। उसे मनुष्य के अन्दर के सब दोष, और पाप और न्यूनताओं को विभिन्न देवत्वों या परम देव की दिव्य शक्तियों को सौंपना होता है, जिस से कि उन्हें दूर किया जा सके ताकि अन्ततः मनुष्यको असीम माताके सम्मुख निर्दोष घोषित किया जा सके— अदितये अनागसः, अथवा 'असीम सत्ता' के लिये, जैसा कि इसे अन्यत्र प्रकट किया गया है।

इस के बाद नौवीं तथा दसवीं ऋचा में हम, अनेकविध सूत्रों में प्रकट किये गये, संयुक्त मानवीय तथा दिव्य सत्ता के 'दिति' और 'अदिति' के विचार को पाते हैं, जिन में से पिछली अर्थात् अदिति अपने साथ पहली अर्थात् दिति को स्थित करती है, नियंत्रित करती है और अपने प्रवाह से प्रवाहित करती है। 'सत्य जो कि सत्य से नियमित है, उसे मैं चाहता हूं (अभिप्राय है, मानवीय सत्य जो कि दिव्य सत्य से नियमित है), गौ की अपक्व वस्तुएं और उस की परिपक्व तथा मधुमय देन (पुनः, अभिप्राय यह होता है कि, अपूर्ण मानवीय फल तथा विराट् चेतना व सत्ता के पूर्ण और आनन्दमय दिव्य फल) एक साथ हों, वह (गौ) काली (अन्धेरी और विभक्त सत्ता, दिति) होती हुई आधारके चमकीले जल द्वारा, सहचरी धाराओंके जल द्वारा (जामर्येण पयसा) पालित होती है। ९ +।

× सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परि षदन्तो अग्मन् ॥ (ऋ. ४.२.१७)

⁂ अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मृजतश्चारु चक्षुः ॥ (ऋ. ४.२.१९)

+ ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गोरामा सचा मधुमत् पक्वमग्ने ।
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय ॥ ४।३।९ ॥

सत्य के द्वारा 'अग्नि,' वृषभ, नर, अपने पृष्ठों के जल से सिक्त हुआ हुआ, न कांपता हुआ, विस्तार को (विशाल स्थान या अभिव्यक्ति को) स्थापित करता हुआ विचरता है; चितकबरा बैल विशुद्ध चमकीले स्तन को दुहता है। १० *। 'बस एक की जो कि स्रोत है, आसन-स्थान है, आधार है, चमकीली सुफेद पवित्रता और त्रिविध लोक में अभिव्यक्त हुए जीवन की चितकबरी रंगत-इन दोनों के बीच प्रतीकरूप में विरोध वर्णन वेद में जगह जगह आता है, इसलिये चितकबरे बैल का और विशुद्ध चमकीले ऊधस या जलों के स्रोत का यह अलंकार अन्य अलंकारों की तरह, केवल मानवीय जीवन के बहुरूप अभिव्यक्तीकरण के विचारको ही दोहराता है,- मानवीय जीवन के जो कि पवित्र, अपनी प्रगतियों में शांत और सत्य तथा असीमता के जलों से परिपुष्ट है।

अन्त में ऋषि प्रकाशमय गौओं और जलों का इकट्ठा जोड कर वर्णन (जैसा वर्णन वेद में वार बार और जगह जगह हुआ है) करने लगता है, "सत्य के द्वारा अगिरसोंने पहाडी को तोडकर खोल दिया और उछाल कर अलग फेंक दिया और गौओं के साथ वे संयुक्त हो गये, उन मानवीय आत्माओंने सुखमयी उषा में अपना निवास बनाया, 'स्व' अभिव्यक्त हो गया जब कि अग्नि पैदा हुआ।११। ×।

सत्य के द्वारा दिव्य अमर जल, जो कि मुदित नहीं थे, अपनी मधुमय बाढ से युक्त से हे अग्ने, एक शाश्वत प्रवाह में प्रवाहित हो पडे, जैसे कि अपनी सरपट चाल में तेजी से दौडता हुआ घोडा + १२।" ये चार (९.१० ११ १२.) ऋचायें वास्तव में अमरता-प्राप्ति के महाकार्य की प्रारंभिक शर्तों को बताने के लिये अभिप्रेत हैं। ये महान् गाथा के प्रतीक हैं, रहस्यवादियों की इस गाथा के जिस के अन्दर उन्हों ने अपने अत्युच्च आध्यात्मिक अनुभव को अधार्मिकों से छिपा कर रखा था, पर जो, लोक से कहना पडता है, उन की सन्तति से भी काफी अच्छी तरह से छिपा रहा।

ये रहस्यमय प्रतीक थे, अलकार थे, जिन से कि उस सत्य को व्यक्त करना अभिप्रेत था जिस की उन्हों ने अन्य सब से रक्षा की थी और केवल दीक्षित को, ज्ञानी को, द्रष्टा को देना चाहते थे, इस बात को वामदेव स्वयं इसी सूक्त की अन्तिम ऋचा में अत्यधिक सरल और जोरदार भाषा में हमें कहता है- "ये सब रहस्यमय शब्द हैं जिन को कि मैने तेरे प्रति उच्चारण किया है, जो तू ज्ञानी है, हे अग्ने! हे विनियोजक! जो आगे जानेवाले शब्द हैं, द्रष्टा ज्ञान के शब्द हैं, जो कि, द्रष्टा के लिये अपने अभिप्राय को प्रकट करते हैं,- मैने उन्हें अपने शब्दों और अपने विचारों में प्रकाशित होकर बोला है।"

एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने
निण्या वचांसि। निवचना कवये काव्यान्य-
शंसिषं मतिभि विप्र उक्थैः। (ऋ ४ ३ १६)

ये रहस्यमय शब्द हैं, जिन्होंने कि सचमुच रहस्यार्थ को अपने अन्दर रखा हुआ है, जो रहस्यार्थ पुरोहित, कर्मकांडी, वैयाकरण, पंडित, ऐतिहासिक, गाथाशास्त्री द्वारा उपेक्षित और अज्ञात रहा है, जिन के लिये कि वे शब्द अन्धकार के शब्द सिद्ध हुए हैं और अस्तव्यस्तता की मुहरे साबित हुई हैं, न कि वसे जैसे कि वे महान् प्राचीन पूर्वपितरों और उन की प्रकाशपूर्ण संतति के लिये थे, निण्या वचांसि नीथानि निवचना काव्यानि। [अर्थात् रहस्यमय शब्द जो कि आगे ले जानेवाले हैं, अपने अभिप्राय को प्रकट कर देनेवाले, द्रष्टा-ज्ञान से युक्त शब्द।]

---

* ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद् वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः॥ (ऋ. ४ ३.१०)

× ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्त समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नरः परि षदन्नुषासमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ॥ (ऋ. ४ ३.११)

\+ ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित् स्रवितवे दधन्युः॥

वैदिक स्वप्नविज्ञान।

(६)

(लेखक- श्री० पं० भगवद्दत्त वेदालंकार, गुरुकुल, कांगडी)

इस अवस्था में पुष्टि अर्थात् पूषा हमें उत्तम कर्म करने के लिये प्रेरित करेगा। कोई भी विपत्ति क्यों न हो, उस का हम मुकाबला करेंगे। अवनति की ओर नहीं जाएंगे, सदा उत्तम कर्म ही करेंगे। कभी बुरे आदमियोंकी संगति न करके श्रेष्ठ कर्म करनेवालों की संगति करेंगे। इसी बात को वेदने इस प्रकार कहा है कि, पूषा हमें उत्तम कर्म करनेवालों की समाज में ला रखे।

आगे कहा है—

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म।
(अ. १६।९।३)

अर्थात् हम दिव्य तेज को प्राप्त हों और फिर इस से दिव्य आनन्द को प्राप्त हों और सूर्य की ज्योति से युक्त हों।

इस मंत्र में यह कहा गया है कि, हम ' स्वः ' अर्थात् दिव्य तेज को प्राप्त करें, जिस से कोई भी शक्ति हमें पराभूत न कर सकें। और फिर दिव्य तेज प्राप्त कर के तथा सर्वतः अजेय होकर हम दिव्य आनन्द को भोगें। और फिर सूर्य के समान ज्योति को प्राप्त करें। अर्थात् हमारे में वह ज्योति का प्रकाश हो, जिस से कि हम संसार में ज्योतिःस्तम्भ बनकर चहुं ओर से अज्ञानान्धकार का निवारण करें।

आगे कहा है—

वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय
वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि।
(अ. १६।९।४)

अर्थात् और भी अधिक ऐश्वर्यवान् होने के लिये मेरा यज्ञ और भी वसुमान् हो। मै ऐश्वर्य की इच्छा करता हूँ, मैं ऐश्वर्यवान् होऊँ। हे प्रभो! तू मुझे ऐश्वर्य धारण करा।

इस मन्त्र में यह कहा गया है कि, ऐश्वर्यवान् होने के लिए हमारा यज्ञ भी ऐश्वर्यवाला हो। ऐश्वर्य के लिये यहाँ पर ' वसु ' शब्द का प्रयोग किया गया है। ' वसु ' बसानेवाले ऐश्वर्य को कहते हैं। अर्थात् कोई भी कार्य क्यों न करें, वह ऐसा होना चाहिए, जिससे आध्यात्मिक, आधिभौतिकादि सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त हो। किसी भी आवश्यक पदार्थ का हमारे यहाँ अभाव न हो।

६. दुष्वप्न्य-विनाशके कुछ अन्य उपाय।

(अथर्व. १९ कां. ५७ सू.)

अथर्व. कां. १९ सू. ५७ में दुष्वप्न्य का वर्णन मिलता है और इस के विनाश के भी नाना प्रकार के उपाय बताये गये हैं। अब हम इस सूक्त की व्याख्या करते हैं। प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि।
(अ. १९।५७।१)

उपर्युक्त मन्त्र कुछ भेद से अथर्व. ६।४६।३ और ऋ. ८।४७।१७ में भी आ चुका है। अथर्ववेद के दोनों मन्त्रों १९।५७।१ और ६।४६।३ में तो नाममात्र का भेद है। वहां केवलमात्र यह भेद है कि " अप्रिये " के स्थान पर " द्विषते " ऐसा आता है। ऋग्वेद में कुछ और भिन्नता है, वह आप के सामने ऋग्वेद के तत्सम्बन्धी मंत्रों की व्याख्या करते हुए रखेंगे।

अब मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

जिस प्रकार एक एक कला करके पूरी सख्या व पूर्ण चन्द्रमा समाप्त हो जाता है और जिस प्रकार एक एक चरण कर के सम्पूर्ण मार्ग पार कर लिया जाता है और जिस प्रकार थोडा थोडा करके सम्पूर्ण ऋण उतार दिया जाता है, उसी प्रकार दुष्वप्न्यों को थोडा थोडा कर के अपने ऊपर से उतार कर अप्रिय वस्तुओं पर लगाते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र में उदाहरणों को देकर दुष्वप्न्य को शनैः शनैः विनष्ट करने का उपाय बताया गया है। कला, शफ

तथा ऋण शब्दों से समझाने का प्रयत्न किया गया है। इन में पहिला कला शब्द है।

कला—

कला अंश या संख्या को कहते हैं। जिस प्रकार बडी संख्या में से एक एक संख्या को कम करते जायें, अन्त में जाकर कुछ भी नहीं बचता और जिस प्रकार एक घडे में से एक एक बूंद कम करते जायें, तो एक समय आकर वह घडा बिल्कुल खाली हो जाता है और जिस प्रकार चन्द्रमा में एक एक कला घटते घटते एक समय आकर वह एक दिन विलुप्त हो जाता है, उसी प्रकार दुष्वप्न्य आदि को यदि हम एकदम विनष्ट न कर सकें, तो एक एक कला कर के उस को विनष्ट कर दें।

शफ—

जिस प्रकार एक एक कदम कर के सारा मार्ग तय कर लिया जाता है, उसी प्रकार दुष्वप्न्यरूपी शत्रु को समाप्त करने का जो मार्ग है, उस को एक एक कदम कर के पूरा कर लेना चाहिये।

ऋण—

जिस प्रकार उधार लिया हुवा ऋण थोडा थोडा कर के सारा चुका दिया जाता है, उसी प्रकार दुष्वप्न्य को भी थोडा थोडा कर के अवश्य विनष्ट कर देना चाहिये।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र में उदाहरणोंद्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि, दुष्वप्न्य को हम किस प्रकार पूर्णतया विनष्ट कर सकते हैं। और फिर मन्त्र में 'अप्रिये' और 'द्विषते' शब्दों से यह भी बता दिया है कि, हमारे दुष्वप्न्य किस के प्रति होने चाहिये, अथवा अपनेमें से हटाकर किन के प्रति भेज देने चाहिये। अर्थात् जहां मनुष्य का स्वप्न व्यक्तिरूप से अपने तथा समाजके लिये हानिकर है, वहां वह दुष्वप्न्य है और वह किसी भी प्रकार से अभीष्ट नहीं है। परन्तु जहां स्वप्न वैयक्तिक शत्रुओं तथा सामाजिक शत्रुओं के विनाश के लिये होता है, वहां वह अपने स्वरूप में तो दुष्वप्न्य है, परन्तु वह है भद्र प्रयोजन के लिये। इसलिये इन शत्रुओं के विनाश के लिये लिया गया स्वप्न अपने स्वरूप में अभद्र होता हुवा भी अभीष्ट है। इस से स्वप्नावस्था भी अक्षुण्ण बनी रहती है और दुष्वप्न्य भी विनष्ट हो जाते हैं।

"दुष्वप्न्यमप्रिये (द्विषते) सन्नयामसि" इस मन्त्रभाग के दो भाव हो सकते हैं। एक तो यह कि, हम जो दुष्वप्न्य अपनी आत्मा के विनाश के लिये अथवा समाज के विनाश के लिये लेते थे, अब अप्रिय पदार्थों व समाज आदि के शत्रुओं के विनाश के लिये लेने लगें। इस अवस्था में दुष्वप्न्य हमारे अन्दर विराजमान रहते हैं, परन्तु वे अप्रिय पदार्थों व शत्रुओं के ही विनाश के लिये होते हैं। दूसरा भाव इस वाक्य का यह हो सकता है कि दुष्वप्न्य हमें छोडकर हमारे शत्रुओं में जा पहुंचे हैं। अर्थात् हमने इतना शक्तिसञ्चय कर लिया है कि शत्रु पराभूत होकर दुष्वप्न्य लेने लग गये हैं। इस मन्त्र में दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये कला, शफ, तथा ऋण शब्द दिये गये हैं। इन से एक भाव और भी टपकता है, वह यह कि कला शब्द दुष्वप्न्य की मात्रा को सूचित करता है। अर्थात् हम एक एक कला कर के दुष्वप्न्य को विनष्ट कर दें। शफ शब्द विनाश करने के प्रकार को सूचित करता है। अर्थात् एक एक कदम चल कर हम बुरे स्वप्न का विनाश कर दें। ऋण शब्द अवश्यम्भाविता को सूचित करता है। अर्थात् जिस प्रकार ऋण अवश्य चुकाना होता है, उसी प्रकार दुष्वप्न्य के सम्बन्ध में भी वही भावना होनी चाहिये कि यह दुष्वप्न्य अपने ऊपर से अवश्य उतारना है।

दुष्ट स्वप्नों का सैन्यसंग्रह—

प्रथम मन्त्र में दुष्वप्न्यों को दूर करने के उपाय बताये गये थे। अब द्वितीय मंत्र में यह बताया गया है कि, दुष्ट स्वप्न आत्मतत्त्व से लडने के लिये किस प्रकार शक्ति-संचय करते रहते हैं। मंत्र में राजा आदियों के उदाहरणों-द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है।

मंत्र इस प्रकार है–

सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कुष्ठा अगुः
सं कला अगुः। समस्मासु यद् दुष्वप्न्यं
निर्द्विषते दुष्वप्न्यं सुवाम। (अ. १९।५७।२)

अर्थात् जिस प्रकार राजालोग युद्धकाल में बहुत से एकत्र हो जाते हैं और जिस प्रकार ऋण चुकते चुकते बहुत बढ जाता है और जिस प्रकार कुष्ठरोग होते होते सारे शरीर में फैल जाता है और जिस प्रकार एक एक

कला कर के संख्या पूरी हो जाती है अथवा चन्द्रमा पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार जो दुःस्वप्न्य हमारे में एकत्रित हो गया है, उसको हम शत्रु के लिये दूर करते हैं।

मंत्रमें यह कहा गया है कि, जिस प्रकार राजालोग शत्रु से लडने के लिये रणस्थल में एकत्रित हो जाते हैं, उसी प्रकार ये दुष्ट स्वप्न आत्म-तत्त्व से लडने के लिये मनुष्य के अन्दर एकत्रित होते रहते हैं। राजाओं का उदाहरण देकर मंत्रने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि, दुःस्वप्न्य शरीर के राजा आत्मा को युद्ध में पराजित कर इस शरीररूपी नगरी के स्वयं राजा बनना चाहते हैं और जिस प्रकार ऋण बढता बढता बहुत हो जाता है और जब तक चुका न दिया जाये, तब तक वह किसी भी अवस्था में पिंड नहीं छोडता, उसी प्रकार यह दुःस्वप्न्य शनैः शनैः बढ जाता है और जब तक इस का समूलोच्छेद न कर दिया जाय, तब तक यह मनुष्य का पीछा नहीं छोडता। और जिस प्रकार कुष्ठरोग चमडी पर एक जगह होने के बाद यदि उसको दूर करने का प्रयत्न न किया जावे, तो मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर को आक्रान्त कर लेता है, उसी प्रकार यह दुःस्वप्न्य भी थोडा आने के पश्चात् यदि उस के निवारण के लिये समुचित उपाय न किया जाये, तो शनैः शनैः कुष्ठ के समान बढते बढते आत्मा पर पूर्ण रूपेण अधिष्ठित हो जाता है और जिस प्रकार एक एक संख्या बढते बढते एक समय आकर वह पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, अथवा एक एक कला बढते बढते पूर्ण चंद्र बन जाता है, उसी प्रकार कलाके सदृश एक एक मात्रामें बढते बढते वह दुःस्वप्न्य पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इसलिये मंत्र में कहा कि पापादि शत्रुओं पर इसे फैंक कर इसका समूलोच्छेद कर देना चाहिये।

भद्र स्वप्न उपादेय है—

आगके मंत्र में अच्छे स्वप्न का भी वर्णन किया गया है और इसको उपादेय बताया गया है।

मंत्र इस प्रकार है-

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद् द्विषते प्र हिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्।
(अ. १९।५७।३)

हे भद्र स्वप्न! देवपत्नियों का तू गर्भ है। यम का करनेवाला है। हे स्वप्न! जो तेरा भद्र रूप है, वह मेरा है और जो पाप रूप है, उसे हम शत्रु के लिये भेजते हैं। हे भद्र स्वप्न! तृषितों अर्थात् विषयलोलुपों के लिये काले पक्षी कौवे का मुख मत हो।

इस मंत्र में अच्छे स्वप्नों को देवपत्नियों का गर्भ बताया गया है। वैदिक शास्त्रों में देवपत्नियां इन्द्राणी वरुणानी आदि प्रसिद्ध हैं। इन देवपत्नियों के सम्बन्ध में विस्तारसे फिर कभी लिखेंगे। यहां केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि देवपत्नियां मानसिक वृत्तियां हैं। दिव्य भावों को पैदा करनेवाली, उन का पालनपोषण करनेवाली वृत्तियां ही यहां देवपत्नियां कहला सकती हैं। महात्मा मुन्शीराम के मन में दिव्य भाव पैदा हुए कि वेदों की शिक्षाद्वारा आर्यजाति का उद्धार करना चाहिये। इन दिव्य भावों को पैदा करने व पालनपोषण करनेवाली मानसिक वृत्तियोंके गर्भमें प्राचीन गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के उद्धार का स्वप्न पैदा हुवा और वह कालान्तर में कार्य में परिणत हो गया।

इसलिये भद्र स्वप्न कार्य में परिणत होने से पहले देवपत्नियों के गर्भ में विद्यमान रहता है। आगे कहा कि, हे स्वप्न! तू (**यमस्य कर**) यम का हाथ है, अथवा यमका करनेवाला है। इन दोनों अर्थोंमें कोई विशेष भेद नहीं है, भाव दोनों का एक है। यहां यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि शुभ स्वप्न तथा अशुभ स्वप्नकी मृत्यु में बडा भेद है। शुभ स्वप्न मारता है, परन्तु वह मानसिक व शारीरिक शत्रुओं का हनन करता है और मानसिक व शारीरिक क्षेत्रोंको अपने नियन्त्रणमें रखता है। जिस प्रकार आचार्य को "मृत्युः" कहा है। वह शिष्य का हनन करता है। वह उस के शरीर का हनन नहीं, परन्तु उस के पापों का हनन करता है। उसी प्रकार शुभ स्वप्न दुर्गुणों का हनन करता है, जिससे देवोंका प्राबल्य होता है।

दूसरी तरफ अशुभ स्वप्न भी मारता है, तथा मनुष्य को अपने नियन्त्रण में रखता है। परन्तु वह आत्मिक शक्तियों का हनन करता है। असुरों का प्राबल्य होता है, तथा देवों का विनाश होता है। इस प्रकार देवों तथा असुरों की मृत्युनियन्त्रण में बडा भेद है।

आगे मन्त्र में कहा कि–

' मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम '

अर्थात् तृषित मनुष्यों का काले पक्षी (कौवे) का मुख मत हो।

मन्त्र का भाव यह है कि, जिस प्रकार काला पक्षी कौवा सदा तृषित व लालायित रहता है, कभी भी उस की तृप्ति नहीं, भक्ष्याभक्ष्य का कोई विचार नहीं, उसी प्रकार जो मनुष्य तृषित रहते हैं, भोग-विलास की उन की सदा इच्छा बनी रहती है। पाप पुण्य, हेय और उपादेय का कोई विचार नहीं। ऐसे भूखे, लालची मनुष्योंके लिये हे भद्र स्वप्न ! तू न हो। वास्तव में ऐसे विषय-लोलुप पुरुषों को भद्र स्वप्न कभी आ सकते ही नहीं।

भद्र स्वप्नद्वारा दुष्वप्न्य का विनाश।

अगले मन्त्र में दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये एक और उपमा दी गई है। वह मन्त्र इस प्रकार है।

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वप्नाश्व
इव कायमश्व इव नीनाहम्। अनास्माकं देव-
पीयुं पियारुं वप यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद्गोषु
यच्च नो गृहे॥ (अ. १९।५७।४)

अर्थात् हे स्वप्न ! हम तेरे उस स्वरूप को भली भांति जानते हैं। हे भद्र स्वप्न ! जिस प्रकार घोडा अपनी काठी व लगाम को तोड डालता है, उसी प्रकार तू भी हमारे अन्दर से, गौवों में से तथा घर में से जो हमारा अंग नहीं है, ऐसे उस देवों अर्थात् दिव्य भावों को विनाश करनेवाले हिंसक दुष्वप्न्यको छेद डाल, अर्थात् विनष्ट कर दे।

इस मंत्र में भद्र स्वप्न की ओर निर्देश करके कहा गया है कि, (**तं त्वा तथा संविद्म**) हे स्वप्न ! तेरे उस भद्र स्वरूप को हम भली भांति जानते हैं। यहां पर मंत्र में स्वप्न के भद्र स्वरूप की ओर संकेत है, क्योंकि इस भद्र स्वप्न से दुष्वप्न्य का विनाश करना है। इसलिये बुरे स्वप्नों के विनाश के लिये भद्र स्वप्नों को अपने अन्दर स्थान देना चाहिये।

इस मन्त्रमें एक और भी बात कही गई है कि, दुष्वप्न्य भद्र स्वप्नों को उस प्रकार आक्रान्त किये होते हैं, जिस प्रकार घोडे को काठी कसे हुए होती है और लगाम उसे अपने नियंत्रण में रखती है। इन दुष्वप्न्यों को अपने ऊपर से उतारने के लिये मंत्र में भद्र स्वप्न से कहा गया है कि, (**स्वप्नाश्व इव कायम्**) हे स्वप्न ! जिस प्रकार घोडा उछल कूदकर काठी को तोडफोड डालता है और (**अश्व इव नीनाहम्**) लगाम को भी तोड डालता है, उसी प्रकार तू भी इन दुष्वप्न्यों को विनष्ट कर डाल। जिस मनुष्यको दुष्वप्न्य आते हों, उसे चाहिये कि किसी प्रकार भद्र स्वप्न को पैदा करके दुष्वप्न्य को एकदम ऐसा झटका दे कि जिस से मन का प्रवाह दूसरी ओर बहने लग जाये।

यहांपर ' **कायम्** ' शरीर न होकर काठी है। क्योंकि इसे दुष्वप्न्य से उपमा दी गई है और दुष्वप्न्य को ' **अनास्माकम्** ' हमारा अंग नहीं है, ऐसा कहा है। इसी प्रकार ' **कायम्** ' भी घोडे का शरीर न होकर काठी है। आगे कहा कि जो बुरे स्वप्नों का प्रभाव हमारे ऊपर हमारी गौ आदि पशुओं पर तथा घर पर पडता हो, वह श्रेष्ठ स्वप्न से दूर हो जाय। गौ शब्द यहां गौ आदि पशुओं का वाचक है। जो दुष्वप्न्य हमें आते हैं, उन का बुरा प्रभाव हमारे ऊपर तो स्पष्ट ही है, किन्तु साथ ही हम अपने घरेलु तथा सामाजिक कर्तव्यों से भी च्युत हो जाते हैं। गौ आदि पशुओं पर दुष्वप्न्य का प्रभाव यही है कि, उनकी सेवा तथा लालनपालन ठीक नहीं होता। इस प्रकार दुष्वप्न्यों का प्रभाव बहुत विस्तृत होता है। मनुष्य को चाहिये कि, वह दुष्वप्न्यों का विनाश करे।

दुष्वप्न्य को दूर करने के सम्बन्ध में अगला मंत्र इस प्रकार है–

अनास्माकस्तद् देवपीयुः पियारुर्निष्कमिव
प्रति मुच्यताम्। नवारत्नीनपमया अस्माकं
ततः परि। दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते निर्दयामसि।
(अ. १९।५७।५)

अर्थात् देवों की हिंसा करनेवाला, दुःखदायी दुष्वप्न्य अनात्मीय है। वह सुवर्णाभरण की तरह हमसे दूर हो जाये। हम से नौ हाथ परे हट जावे। हम अपने सम्पूर्ण दुष्वप्न्यों को शत्रु के लिये बाहिर कर दें।

इस मन्त्र में दुष्वप्न्य को निष्क अर्थात् सुवर्णाभरण से उपमा दी गई है। इस का भाव यह प्रतीत होता कि, जिस प्रकार सुवर्ण का आभूषण बहुत प्रिय होता

मनुष्य इसे या तो बहुत ही लाचार अवस्थामें छोडता है, या इस प्रकृति के मोह को त्याग कर वैराग्य में पदार्पण करते हुए छोडता है। उसी प्रकार कई दुष्वप्न्य भी मनुष्य को ऐसे प्रिय होते हैं कि वह एक क्षण के लिये भी उन्हें छोडना नहीं चाहता।

इस प्रकार के दुष्वप्न्यों को छोडने में मनुष्य का बहुत बडा त्याग है। वेद कहता है कि, ऐसा दुष्वप्न्य चाहे तुम्हारा कितना ही प्रिय क्यों न हो, तो भी वह तुम्हारा आत्मीय नहीं है। वह देवों का हिंसक है, उसे तुम्हें छोडना ही चाहिये। आगे जो "नवारत्नीनपमया." अर्थात् नौ हाथ परे कर दें, ऐसा कहा है, यह वेद का एक मुहावरा है। वेद इस से मनुष्यों को मुहावरा बनाने की शिक्षा देता है।

दुष्वप्न्य मनस्पाप है।

ऋ. १० सू. १६४ सू. में भी दुष्वप्न्य का वर्णन है। इस सूक्त का देवता "दुष्वप्न्यनाशनम्" है, अर्थात् दुष्वप्न्य का किस तरह से विनाश करना चाहिये, यह इस सूक्त में वर्णन किया गया है। इस पर अब हम विचार करते हैं। प्रथम मंत्र इस प्रकार है-

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः।
(ऋ. १०।१६४।१)

हे (मनसस्पते) मन के मालिक दुष्वप्न्य! तू (अपेहि) दूर हो, (अप क्राम) तू दूर चला जा। (परः चर) परे चला जा। तू (जीवतः मनः) प्राणी के मन को (बहुधा) बहुत प्रकारसे (निर्ऋत्यै) आपत्ति, दुःख तथा पापप्रवृत्ति के लिये ही (आचक्ष्व) बार बार कहा करता है, (परः) तू परे हो जा।

इस मंत्र में दुष्वप्न्य को "मनसस्पते" मन का मालिक बताया गया है। मन तो संपूर्ण शरीर को अपने वश में रखता है। परन्तु यह दुष्वप्न्य मन को भी अपने वश में रखता है। मन के द्वारा शरीर तथा इंद्रियादिकों से जो चाहता है, वह कराता है। इसलिये इस दृष्टि से इसे "मनसस्पतिः" अर्थात् मन का स्वामी कहा गया है। इस मन्त्र में दुष्वप्न्य को "अपेहि" "अपक्राम" "परश्चर" आदि शब्दों से दूर करने का स्पष्ट विधान किया गया है। इस स्वप्न को क्यों दूर करना चाहिये, इस का कारण आगे मन्त्रार्ध में स्पष्ट कर दिया गया है। वह कारण यह है कि, यह स्वप्न प्राणी के मनको "निर्ऋति" अर्थात् पाप, कष्ट, आपत्ति, कलुषिता आदि के लिये बार बार प्रेरित करता रहता है। श्रेष्ठ तथा सज्जन आदमी के मन को भी पतित करने के लिये प्रेरणा करने में यह कभी थकता नहीं। जब तक यह अपने काम में सफल नहीं हो जाता, तब तक यह बार बार मन को "निर्ऋति" के लिये प्रेरित करता रहता है। इसलिये मन के स्वामी बने हुए दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये बार बार मन्त्र में दुष्वप्न्य की भर्त्सना की गई है।

अगले मन्त्र में श्रेष्ठ मनुष्यों के सम्बन्ध में कहा है।

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः॥
(ऋ. १०।१६४।२)

अर्थात् श्रेष्ठ मनुष्य (भद्रं वै वरं) कल्याणकारी तथा वरणीय पदार्थ को (वृणते) स्वीकार करते हैं और (दक्षिणम्) दक्ष तथा उत्साहयुक्त मन को (भद्रं युञ्जन्ति) कल्याणकारी बातोंमें लगाते हैं। (जीवतः) प्राणी का (मनः) मन (बहुत्र) बहुत जगह जानेवाला होता है, इसलिये वह मन (वैवस्वते) विवस्वान् आदित्य के समान अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर (भद्रं चक्षुः) भद्र तथा श्रेष्ठ पदार्थों का ही दर्शानेवाला होता है।

उपर्युक्त मंत्र में दुष्वप्न्य आदि दुर्गुणों को दूर करने का बहुत ही अच्छा उपाय बताया गया है। वह यह कि जो भी पदार्थ हम अपने लिये स्वीकार करें, वह भद्र तथा वरणीय हो। अभद्र बातों का अनुसरण तथा अभद्र पदार्थों का निर्वाचन हम कभी भी न करें। हमारा जो बलवान्, चतुर तथा उत्साही मन है, उस को हम भद्र बातों की ओर ही प्रेरित करते रहें। वह मन यदि योग्यता तथा साहस दिखावे, तो भद्र बातोंमें ही, अभद्रमें नहीं। आगे फिर मन के सम्बन्ध में कहा है कि, प्राणी का मन "बहुत्र" बहुत बहुत जगहों पर जानेवाला है। और जिस जिस पदार्थ से वह सम्बन्ध करता है, उस उस को वह प्रकाशित करता है।

इसलिये इस मन को चक्षु कहा है, अर्थात् वह आंख है। क्योंकि सब पदार्थों को प्रकाशित करता है। परन्तु किन किन बातों को प्रकाशित करे, इत्यादि बातोंको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'वैवस्वते' यह शब्द दिया है। विवस्वान् से वैवस्वत् बना है। विवस्वान् आदित्य को कहते हैं। इस का अर्थ है '**विवासनक्रियया तमसां सहान्**' अर्थात् जो अन्धकार को दूर करता है। इस से विवस्वान् सम्बन्धी को वैवस्वत कहेंगे। अर्थात् जिस का काम अन्धकार को दूर करना है। मन अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करनेवाला है। इसलिये यहां पर कहा कि, अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये वह मन भद्र पदार्थों से संबन्ध करे और उन को प्रकाशित करे। अभद्र बातों का दर्शन करनेवाला मन न हो। यदि मन अभद्र बातों का ज्ञान करेगा, तो वह वैवस्वत न होगा। क्योंकि अभद्र बातों के ज्ञान से अज्ञानान्धकार दूर नहीं होता। इसलिये इस मन्त्र में दुष्वप्न्य आदिकों को दूर करने का उपाय यह बताया कि, भद्र ही स्वीकार करो। भद्र के लिये ही प्रयत्न करो और सदा भद्र को ही देखने का स्वभाव बनाओ। अर्थात् मन, वचन, कर्म से सदा भद्र ही भद्र करो।

अगला मन्त्र इस प्रकार है-

यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः। अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टा-न्यारे अस्मद्दधातु ॥ (ऋ. १०।१६४।३)

यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्व० ६।४५।२ में भी आता है। उस के सम्बन्ध में हम फिर विचार करेंगे। अब मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है-

(**यत्**) जो पाप (**आशसा**) अपनी इच्छासे (**जाग्रतः**) जागते हुए (**यत्स्वपन्तः**) और सोते हुए हम (**उपारिम**) प्राप्त होते हैं और (**निःशसा**) बिना इच्छा किये भी कर बैठते हैं अथवा (**अभिशसा**) चहुं ओर प्रशंसित होकर कर बैठते हैं, (**अजुष्टानि**) असेवनीय (**विश्वानि दुष्कृतानि**) उन सब दुष्कर्मों को (**अग्निः**) अग्नि (**अस्मत् आरे दधातु**) हम से दूर रखे।

जाग्रतावस्था या सुप्तावस्था में हम जो दुष्कर्म करते हैं, उन को दूर करने के लिये अग्नि से प्रार्थना की गई है। अग्नि सम्भवतया यहाँ संकल्पाग्नि ही समझनी चाहिये। हमारे अन्दर शुभ संकल्पाग्नि खूब प्रज्वलित हो रही हो, तो हम दोनों अवस्थाओं में दुष्कर्मों से बचे रह सकते हैं।

आगे मन्त्र में कहा कि-

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि।
प्रचेता न आंगिरसो द्विषतां पात्वंहसः।
(ऋ. १०।१६४।४)

हे (**इन्द्र**) राजन् और (**ब्रह्मणस्पते**) ब्राह्मणों के अधिपति! (**यत्**) जो (**अभिद्रोहं**) हम किसी से द्रोह (**चरामसि**) करते हैं, (**प्रचेताः**) प्रकृष्ट चित्तवाला विद्वान् तथा (**आंगिरसः**) आंगिरस (**नः**) हमें (**अंहसः**) पापों से (**पातु**) रक्षा करे।

इस मन्त्र में दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करने के लिये इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, प्रचेता तथा आंगिरस देवताओंसे प्रार्थना की गई है। ये इन्द्र आदि देवता द्रोह तथा दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं, यह विचारणीय है। इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, प्रचेता तथा आंगिरस ये नाम परमात्मा के भी वाचक हैं। परमात्मा से तो हरेक दुर्गुणों को दूर करने, श्रेष्ठ गुणों को धारण करने तथा अन्य सभी उत्तम बातों को ग्रहण करने के लिये प्रार्थना की ही जाती है। परन्तु मनुष्यसमाज में तथा राष्ट्र में ये पदाधिकारी किस प्रकार दुष्वप्न्यों को दूर कर सकते हैं, यह भी विचारणीय है। इन्द्र अर्थात् राजा राष्ट्र में प्रजा को सुखी बनाकर, दुष्टों को दण्ड देकर तथा सब तरह से धर्म की उन्नति कराकर पापादि दुर्गुणों से प्रजा की रक्षा कर सकता है।

परन्तु दुष्वप्न्य तथा पापादियों से रक्षा करने का दूसरा तरीका ब्रह्मणस्पति का है। वह शिक्षा देकर समझा-बुझा कर और अन्य ब्राह्मणोचित उपायों से दुष्वप्न्य आदि दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार प्रचेता और आंगिरस भी अपने अपने तरीकों से मनुष्यों में से पापादि दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

आगे कहा है कि-

अजैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम्।
जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु ॥ (ऋ. १०।१६४।५)

(**अद्य अजैष्म**) आज हमने विजय कर लिया (**असनाम च**) और जो प्राप्तव्य था, वह प्राप्त कर लिया

है और अब (अभूम अनागसो वयम्) अब हम निष्पाप हो गये हैं । (जाग्रत् स्वप्नः) जाग्रत् स्वप्न में जो (पापः संकल्पः) पापरूप संकल्प करते हैं, वह (यं द्विष्माः) जिस से हम द्वेष करते हैं, (तं स ऋच्छतु) उस को वह प्राप्त हो । (यः नः द्वेष्टि तं ऋच्छतु) और जो हम से द्वेष करता है, उसको वह प्राप्त हो ।

इस से पूर्व मन्त्रों में बुरे स्वप्नों तथा दुर्गुणों आदि के निवारण का संक्षेप में वर्णन किया गया है । अब इस मन्त्र में यह बताया गया है कि, बुरे स्वप्न तथा पाप जब दूर हो चुके, तब हम विजयी बन गये हैं । क्योंकि अब हम निष्पाप हैं । हमारे अन्दर अब किसी भी प्रकारका पाप नहीं रहा, इसलिये जागते हुए तथा सोते हुए जो भी पापरूपी संकल्प हम करते हैं, वह जिस से हम द्वेष करें अथवा जो हम से द्वेष करे, उसको प्राप्त हों । यहांपर एक बात और ध्यान देनेयोग्य है कि, दुःस्वप्न्य को यहाँपर ' पापः संकल्पः ' पापरूप (बुरा) संकल्प कहा गया है ।

दूसरे ' जाग्रत् स्वप्नः ' यह समस्त पद जाग्रतावस्था के स्वप्न की ओर निर्देश करता हुआ प्रतीत हो रहा है । और फिर यहां जाग्रतावस्थाके स्वप्न का स्वरूप संकल्प बताया गया है । इस से यह स्पष्ट है कि, वेद जाग्रतावस्था के स्वप्न को ' संकल्प ' मानता है । यह उपर्युक्त सूक्त कुछ भेद से अथर्ववेद षष्ठ काण्ड, सूक्त ४५ में भी आया है ।

प्रथम मंत्र यह है-

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षाँ वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः ॥ (अथर्व० ६।४५।१)

हे (मनस्पाप) मनके पाप (परोपेहि) दूर हट जा, (किमशस्तानि) क्यों अप्रशंसनीय दुर्गुणोंकी (शंससि) प्रशंसा करता है ? (परेहि) दूर चला जा, (न त्वा कामये) मैं तुझे नहीं चाहता, (वृक्षान् वनानि कामये) वृक्षों तथा जंगलोंको चाहता हूं । हे (मे मनः) मेरे मन ! तू (गृहेषु गोषु संचर) घरों में तथा गौओं में विचरण कर ।

अथर्ववेद के इस मन्त्र में बुरे स्वप्नों को "मनस्पाप" मन का पाप कहा है । इसी को ऋग्वेद में "मनसस्पते" मन का पति अर्थात् स्वामी कहा गया है । इस मनस्पाप तथा मनस्पते में कोई विशेष भेद नहीं है । दोनों एक ही चीज के द्योतक हैं । मनस्पाप अर्थात् बुरा स्वप्न मन का मालिक होता ही है । आगे कहा कि, "किमशस्तानि शंससि " अर्थात् अप्रशस्तों की क्यों प्रशंसा करता है ? यह मन का स्वाभाविक गुण है । जब मन की पाप करने की इच्छा होती है, तब वह उस पदार्थ तथा पाप के काले परदे को छिपाकर उस के शुभ्र पर्दे को दिखाता है । अथवा बुरी बात को भी माया से अच्छी दिखाकर धोखा देता है और उसे लेना चाहता है ।

चोरी व व्यभिचार बुराही है, परन्तु जब मन की इन पापों को करने की इच्छा होती है, तब वह कई तरह से इन के करने के हक में युक्तियां ढूंढ लाता है । उस समय मन श्रेष्ठ भावों को मायामयी युक्तियों से हराकर उन्हें दबा देता है और पाप करने में अव्याहत मार्ग ढूंढ निकालता है । परन्तु मन्त्र कहता है कि, हे मनके पाप ! तू दूर चला जा । अप्रशस्तों की झूठी प्रशंसा मत कर । आगे कहा कि, तू दूर चला जा, मैं तुझे नहीं चाहता । परंतु वृक्षों तथा बनों को चाहता हूं । विचारणीय यह है कि, यहाँ वृक्षों तथा बनों की कामना से क्या तात्पर्य है ? इस का यह भाव प्रतीत होता है कि, मनने कहीं न कहीं अवश्य उलझना है । वह दुर्गुणों तथा पापों में न उलझकर वृक्ष तथा बनों में उलझे, वहीं विचरे, तथा उनमें परमात्मा की विभूति देखकर उन की प्रशंसा करे, तो वह मनस्पाप से बच सकता है ।

वृक्ष तथा वन आध्यात्मिकता को जागृत करनेवाले हैं । मन की यह एक परख भी है । जिस मनुष्य का मन वृक्षों तथा वनों में विचरता है, वह आध्यात्मिकता के लिये बड़ी उर्वरा भूमि है । वहाँ परमात्मा की बनाई हुई प्राकृतिक विभूति दृष्टिगोचर होती है । वह मानवीय विकृत सृष्टि के जाल में नहीं फंसता ।

फिर आगे कहा कि, मेरे मन ! तू घरों में तथा गौओं में विचरण कर । यदि मन को कोई काम न होगा, तो वह नाना भांति के बुरे बुरे स्वप्न लेने लगेगा । इसलिये उसे खाली न बैठने देने के लिये आवश्यक यह है कि, मन को काम में लगाये रखे । सब से श्रेष्ठ तथा उपयुक्त काम

यही है कि, घरके कार्यों तथा गौओंमें मनुष्य का मन लगा रहे। घर के कार्य भी इतने हो सकते हैं कि, मनुष्य कभी भी खाली न बैठ सके और फिर गौएँ रखनेवाले मनुष्य को तो खाली समय मिल ही नहीं सकता। गौओं के कहने से प्रत्येक आर्यघर में गोपालन करना अत्यन्त आवश्यक है, यह भी बता दिया। इसीलिये बुरे स्वप्नों को दूर करने का एक उपाय यह भी है कि, मनुष्य सदा घर की उन्नति में लगा रहे, तथा गौ आदि पशुओं का पालन आवश्य करे।

देवताओंसे दुष्वप्न्य दूर करनेकी प्रार्थना।

वेद में अनेकों देवताओं से भी स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना की गई है। अब विचारणीय यह है कि उन देवताओंका स्वप्न के साथ क्या सम्बन्ध है और वे किस प्रकार स्वप्न को दूर करते हैं ?

सवितासे दुष्वप्नको दूर करनेकी प्रार्थना।

ऋ. ५।८२।४ में आता है कि–

अद्या नो देव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥

अर्थात् हे सविता देव ! आज तू हमें अपनी प्रजा की तरह सौभाग्य प्रदान कर और स्वप्न में आये बुरे विचारों को दूर कर।

इस उपर्युक्त मन्त्र में सविता से स्वप्नों को दूर करने की बहुत स्पष्ट प्रार्थना मिलती है। अब विचारणीय यह है कि, सविता का स्वप्न से क्या सम्बन्ध है ?

सवितादेवता पर विस्तृत विचार तो फिर कभी किया जायेगा। संक्षेप में केवल उसके स्वरूप का दिग्दर्शन कराना ही पर्याप्त होगा। सवितादेवता राष्ट्र में नियमोंका निर्माता और सबको अपने अपने कार्यमें प्रेरित करनेवाला है। वेदमें ऐसा वर्णन आता है कि, उसके नियमोंको राजा भी नहीं तोड सकता। उदाहरणार्थ एक दो मन्त्र हम आपके सामने रखते हैं। ऋ. २।३८।९ में कहा है कि–

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः। नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः ॥

अर्थात् जिसके व्रत अर्थात् नियमोंको इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि जितने भी देव हैं, इनमें से कोई भी नहीं तोड सकता और न ही शत्रु भी उसके नियमों को तोड सकते हैं, ऐसे उस सविता को नमस्कारद्वारा आह्वान करते हैं। और शत० ब्रा० १।१।२।१७ में सविताके सम्बन्धमें कहा है कि '**सविता वै देवानां प्रसविता**' अर्थात् सविता देवों को कार्यों में प्रेरित करता है। इत्यादि और भी मन्त्र हैं, जिनसे यह स्पष्ट पता चलता है कि सविता नियम-निर्माता है। सब राजा व प्रजा नियमों का पालन करते हैं कि नहीं, यह देखता है। और सविता शब्द का धात्वर्थ भी इस बात को स्पष्ट बता रहा है कि, वह सब को कार्यों में प्रेरित करता है। सविता का स्वप्न के साथ क्या संबंध है, इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण सविता के उपर्युक्त वर्णन से इस प्रकार समझना चाहिये कि जो मनुष्य आलसी है, सदा स्वप्न लिया करता है, उसको सदा कार्य में लगाये रखना सविता का कार्य है।

जब राष्ट्र में प्रजा की दिनचर्या इस प्रकार होगी कि वे राजकीय नियमों के अधीन कार्य कर रहे होंगे, तो स्वप्न लेने का कोई समय ही नहीं मिलेगा। क्योंकि बुरे स्वप्न लेना निठल्ले तथा अकर्मण्य आदमियों का कार्य है। जो सदा कार्य में जुटा रहता है, दिनचर्या भी उस की सारे दिन की बनी होती है, उस व्यक्ति को कभी भी बुरे स्वप्न नहीं आ सकते और फिर बुरे स्वप्न आते कब हैं ? जब कि दौर्भाग्य तथा गरीबी आदि विपत्तियां हों। समृद्धि तथा सौभाग्य में कभी बुरे स्वप्न नहीं आ सकते। इसलिये मन्त्र में सविता से प्रार्थना की गई कि, तू हमारे ऊपर सौभाग्य की वर्षा कर, जिस से कि हम बुरे स्वप्नों से बच जायें। इसलिये राष्ट्र में सविता का एक यह भी कार्य है कि जो व्यक्ति बुरे स्वप्न लेते हैं, सदा अकर्मण्य रहते हैं, उनको कार्य में प्रेरित कर उन से बुरे स्वप्नों को दूर करावे।

सूर्यसे स्वप्नको दूर करनेकी प्रार्थना।

ऊपर हमने सविता से स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना पर विचार किया, पर कुछ स्थानों पर सूर्य से भी स्वप्न को दूर करनेकी प्रार्थना की गई है। वैसे तो सविता सूर्य का ही एक रूप है। परन्तु हमने यहां पर सविता को सूर्य से पृथक् ही माना है। सविता और सूर्य में क्या भिन्नता व अभिन्नता है, यह तो इन दोनों पर स्वतन्त्रलेख

लिखते हुए दर्शाया जावेगा। किन्तु यहां पर हमने सूर्य को आधिभौतिक रूपमें स्वीकार कर उससे किस प्रकार से स्वप्न दूर किये जा सकते हैं, यह दर्शाने का प्रयत्न किया है। सूर्य से स्वप्न को दूर करने के सम्बन्ध में द्योतक मंत्र हम यहां दिये देते हैं।

अथर्व. १३।१।५८ में आता है कि-

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति।
दुष्वप्न्यं तस्मिँछमलं दुरितानि च मृज्महे।

हे दिव्य गुणयुक्त सूर्य! जो कोई दुस्वप्न्यादि शत्रु आज तेरे और मेरे बीच में आवे, ऐसे उन तेरे तथा मेरे बीच में आये हुए बुरे स्वप्नों को मलिन व्यवहारों तथा दुर्गतियों को हम शुद्ध करें।

इस उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए, यह कहा गया है कि, वह "दुस्वप्न्य" अर्थात् बुरे स्वप्नों को भी दूर करता है। अब विचारणीय यह है कि, वह सूर्य दुस्वप्नों को कैसे दूर करता है? इस बात को हम कई दृष्टियों से स्पष्ट कर सकते हैं। एक तो यह कि सूर्य प्राणधारक तथा जीवनदायक है। इस भूमण्डल पर सब ओषधियां तथा वनस्पतियां सूर्य से ही रस धारण करती हैं, जो कि हमारी समृद्धि तथा स्वस्थ शरीर का कारण बनती हैं। समृद्धि तथा स्वस्थ शरीर के होने पर स्वप्नों का न होना स्पष्ट है।

एक ध्वनि जो कि इस मंत्र से निकलती है, वह यह है कि मंत्रमें जो यह कहा है कि, "सूर्य त्वां च मां चान्तरायति" अर्थात् हे सूर्य! तेरे और मेरे बीचमें जो आता है, इस से यह स्पष्ट है कि, सूर्य का सीधा सम्पर्क तथा सेवन भी अवश्य करना चाहिए। इस से दिमाग में तथा शरीर में शक्ति बढती है, जिस से स्वप्न भी दूर होते हैं। क्योंकि सूर्य जीवनदायक तथा प्राणधारक है। इसलिये वनस्पति, ओषधी तथा अन्य वस्तुएँ जो भी उस के सम्पर्क में आती हैं, वे पुष्ट होती हैं। इसी प्रकार सूर्यसम्पर्क से मनुष्य की परिपुष्टावस्था होने पर स्वप्न का अभाव सम्भव है और यह बात अत्यन्त सिद्ध है कि, जो किसान सूर्य की धूप में कार्य करते हैं, उन के शरीर बहुत पुष्ट होते हैं। और वे सूर्य की धूप में भी इतना परिश्रम करते हैं कि, उन्हें रात्रि में बहुत गाढ निद्रा आती है। इस से स्वप्नों का कम होना स्वाभाविक है।

इसलिए जिस मनुष्य को स्वप्न बहुत आते हैं, उसे चाहिए कि, वह उनको दूर करने के लिए सूर्य की धूप में खूब परिश्रम करे। सूर्य की धूप में परिश्रम करने का परिणाम यह होगा कि, थकावट के कारण उस मनुष्य को इतनी गाढ निद्रा आयेगी कि, स्वप्न उस के पास फटक ही नहीं सकते। और फिर मंत्र में जो यह कहा गया है कि, मलिन व्यवहार दुरित अर्थात् पापों को हम सूर्य की उपस्थितिमें शुद्ध करते हैं। यह एक स्वाभाविक वर्णन है। सूर्य की उपस्थिति का भाव यह है कि ज्ञान व प्रकाश। इन ज्ञान व प्रकाशके होने पर पाप आदि किया जा सकना कठिन है। क्योंकि अन्धकार तथा ओटमें ही सब पाप किये जाते हैं और मेरे बीच में कोई न आवे, इस का भाव यह है कि, हम पर अन्धकार व अज्ञान कभी भी प्रभुत्व न जमावें। अन्धकार न होने पर मलिन व्यवहार तथा पाप न होंगे, इनके न होने पर स्वप्न भी कभी न आवेंगे। यदि हम और सूक्ष्म दृष्टि से इस पर विचार करें, तो हमें और भी एक भाव प्रतीत होता है और वह यह कि, स्वप्न तथा दुःस्वप्न्य समाज के नियम, बन्धन तथा उस की अपनी सतह (Standard) पर भी निर्भर होते हैं। यदि समाज के नियमादि बहुत निकृष्ट हों, पतित हों, तो उन मनुष्यों को उसी प्रकार के स्वप्न आवेंगे।

एक समाज में असत्य बोलना, ठगना, धोखा आदि देना और गरीबों का शोषण करना प्रचलित है, तो उस समय मनुष्यों को प्रतिहिंसा में दुःस्वप्न्य इत्यादि का आना स्वाभाविक है। इसलिए सूर्य को ज्ञान का प्रतिनिधि मानकर यह शिक्षा दी गई है कि, हम मलिन व्यवहार दुरित आदि को शुद्ध करते हैं। जब शुद्धिद्वारा समाज की स्थिति, सतह, बहुत ऊँची हो जायगी, गरीबों का शोषण न होगा, तो प्रतिहिंसा की भावना भी न रहेगी। सो स्वभावतः दुःस्वप्न्य भी कम आवेंगे। वहां समाज को उद्देश्य करके वर्णन किया गया है। इसलिये "मृज्महे" बहुवचन का प्रयोग उपर्युक्त रहस्य को स्पष्ट करनेमें बहुत सहायक है।

इसी प्रकार ऋ. १०।३७।४ में भी सूर्य से स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना की गई है। मंत्र इस प्रकार है-

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना। तेनास्मद् विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्ष्वप्न्यं सुव।

हे सूर्य! तू जिस ज्योतिसे अन्धकार को दूर करता है, जिस किरण से तू सम्पूर्ण जगत् को जगाता है, उस ज्योति से तू हम से समस्त अन्नादि पदार्थों के अभाव, रोग तथा दु ष्वप्न्य आदियों को दूर कर।

इस उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य से प्रार्थना की गई है कि, तू अपनी ज्योतिसे अन्धकार को दूर करता है और विश्व जगत् को जगाता है। इसलिये हे सूर्य! तू अपनी लोकोपकारक किरणों के द्वारा ओषधि तथा वनस्पति आदि पदार्थों में उत्तम रस पैदा कर। और हमारे में से रोगों को दूर कर, जिस से कि बुरे स्वप्नोंका प्रभाव हम पर न हो सके। बुरे स्वप्न, गरीबी तथा व्याधि आदि के प्रभुत्व में ही ज्यादा आते हैं। इसलिए व्याधि तथा अभाव के दूर करने में सर्वोत्कृष्ट सहायक सूर्य ही होता है।

यजु. २०।१६ में भी सूर्य से स्वप्न आदि दोषों को दूर करने की प्रार्थना मिलती है। मन्त्र इस प्रकार है-

यदि जाग्रद् यदि स्वप्न एनांसि चकृमा वयम्। सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः।

अर्थात् यदि जागते हुए या सोते हुए अथवा स्वप्न में हमने कोई पाप किया हो, सूर्य उन सब हिंसा तथा पापों से मेरी रक्षा करे।

इस मन्त्र में कहा गया है कि जागते हुए व सोते हुए हम किसी भी प्रकार का पाप न कर सकें। इसके लिए सूर्य से प्रार्थना की गई है। जागते हुए हम पाप न कर सकें, सूर्य से इस प्रकार की प्रार्थना करना अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु सोते हुए भी हम पाप न कर सकें, ऐसी सूर्य से प्रार्थना का वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि रात्रि में भी सूर्य का प्रभाव है। रात्रि के समय होनेवाली सूर्य की शक्ति से हम किस किस प्रकार लाभ उठा सकते हैं, इत्यादि बातें विचारणीय हैं!!

वरुणसे दुष्वप्न्यको दूर करनेकी प्रार्थना।

कई मन्त्रों में वरुण से प्रार्थना की गई है कि, वह हमारे बुरे स्वप्नों को दूर करे। मन्त्र इस प्रकार है।

यास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान्य उत्तमा अधमा वारुणा ये। दुष्वप्न्यं दुरितं निष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ (अ. ७।८३।४)

अर्थात् हे वरुण! हमारे जितने भी उत्तम, अधम वरुण-सम्बन्धी पाश हैं, उन को तू हम से दूर कर। दुष्वप्न्य तथा दुराचरणादि पापों को हम से दूर कर। क्योंकि अब हम सुकृत के लोक में जाते हैं।

इस मन्त्र में वरुण से दुष्वप्न्योंको दूर करने की प्रार्थना की गई है। वेद में वरुण का स्वरूप दुष्टों व पापियों को पाश में बांधनेवाला बताया गया है। इसलिये राष्ट्र में जो मनुष्य सदा दुष्वप्न्य में पडे रहते हैं, उन को वरुण पकड लेता है और उन में से दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करवाता है। मनुष्य में से दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करने का उपाय मन्त्र के अगले पाद में बताया गया है। वह इस प्रकार है-

'अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्।'

अर्थात् वरुण दुष्वप्न्य होनेवाले मनुष्यों को सुकर्मा मनुष्यों की समाज में पहुंचाता है। इस प्रकार सत्संग से वह अकर्मण्य मनुष्य भी कर्मठ व श्रेष्ठ कर्म करनेवाला हो जाता है और दुष्वप्न्यों से बच जाता है।

एक और मन्त्र में वरुण से स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना की गई है।

वह इस प्रकार है-

यो मे राजन् युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह। स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद्वरुण पाह्यस्मान्॥ (ऋ. २।२८।१०)

अर्थात् हे वरुण राजन्! जो मेरा सहयोगी अथवा सखा स्वप्न में मुझ भीरु को भयभीत करता है, अथवा जो चोर व डाकू हम को पीडित करता है, हे वरुण! उस सखा व चोर, डाकू आदि से हमारी तू रक्षा कर।

इस उपर्युक्त मन्त्र में विचारणीय यह है कि चोर व डाकू के स्वप्नोंसे अथवा स्वप्नमें भयभीत करनेवाले साथी से वरुण किस प्रकार रक्षा कर सकता है? चोर व डाकू आदि के स्वप्न मनुष्यों को उसी अवस्था में आते हैं, जब

कि राष्ट्र में इन का बाहुल्य हो, राष्ट्र की पकड में वे न आते हों । जिस राष्ट्र में चोर, डाकू आदि न होंगे, वहां मनुष्यों को इन के स्वप्न भी नहीं आयेंगे । प्रजाको इनके स्वप्न न आवें, इस के लिये वरुण का यह कर्तव्य है कि, राष्ट्र में जितने भी चोर, डाकू हों, उनको पकड ले। और ऐसा नियंत्रण रखे, कि, भविष्य में भी कोई चोर व डाकू आदि बनने का साहस न कर सके ।

दूसरे सहयोगी व सखा का स्वप्न में डराने का भाव यह है कि, वह व्यक्ति जो अपने सखा को स्वप्न में डराता है, अर्थात् स्वप्न में अपने जिस सखा से डर लगता है, वह सच्चा सखा नहीं है । इसी प्रकार व्यापारादि जिस अपने सहयोगी से डर लगता है, वह भी सच्चा सहयोगी नहीं है। वे दोनों छली हैं, कपटी हैं। ऐसे ऊपर से बने हुए कपटी सखा व सहयोगी को भी अपने पाश में बांधना वरुण का काम है ।

जलों के द्वारा दुष्वप्न्य को दूर करना ।

कई मंत्रों में जलों के द्वारा बुरे स्वप्नों को दूर करने का विधान मिलता है । उदाहरणार्थ दोएक मंत्रों को हम यहां दिये देते हैं ।

मंत्र इस प्रकार है-

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् । प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥
(अ. १०।५।२४)

अर्थात् निर्दोष जल हमारे में से पापों को दूर करें। और उत्तम गतिवाले श्रेष्ठ जल हमारे में से दुष्टाचरणादि अनेकविध पापों, बुरे स्वप्नों, तथा सब प्रकार के मलों को दूर करें ।

इस मंत्र में जलोंद्वारा पाप व मल आदि के अतिरिक्त बुरे स्वप्नों केभी दूर करने का वर्णन मिलता है। जल बुरे स्वप्नों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं, यह एक विचारणीय विषय है । जल शांतिका प्रतिनिधि माना गया है, अर्थात् जल मनुष्य को शान्ति देनेवाला है। शान्त तथा स्वस्थचित्तता का होना ही स्वप्न के न होने का श्रेष्ठ उपाय है । दूसरे जल को वेदों में श्रेष्ठ औषधि माना गया है। वेदों में तो जलचिकित्सा का वर्णन आता ही है, परन्तु आजकल भी जलचिकित्सा कह के एक पृथक् चिकित्सा-प्रणाली प्रचलित हो चुकी है। इस के द्वारा नानाविध रोग दूर किये जाते हैं। दिमाग की खराबी, कब्जी, तथा अन्य विषमताओं के कारण जो स्वप्न आते हों, शायद उन की एक चिकित्सा जल भी हो । वेद में तो जलचिकित्साद्वारा बुरे स्वप्नों को दूर करने का विधान मिलता ही है । इसी प्रकार जलसे बुरे स्वप्नोंको दूर करने के सम्बन्ध में एक और भी मंत्र आता है ।

वह इस प्रकार है-

प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ।
(अ. १६।१।११)

अर्थात् जल हमारे में से हिंसा आदि पापों और बुरे स्वप्नों को दूर करे ।

इस प्रकार जल-चिकित्सा कर के दुष्वप्न्यों को दूर करना चाहिये ।

अपामार्ग से दुष्वप्न्यको दूर करना ।

यजु. ३५।११ तथा अथर्व. ४।२७।५ में अपामार्गद्वारा दुष्वप्न्य को दूर करने का वर्णन मिलता है ।

मन्त्र इस प्रकार है-

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः ।
अपामार्ग त्वमस्मद् अप दुःष्वप्न्यं सुव ॥

अर्थात् हे अपामार्ग ! तू हमारे में से पाप को दूर कर । मन की मलिनता तथा दुष्ट क्रिया को दूर कर। और इंद्रियों की चंचलता तथा दुष्वप्न्य को दूर कर ।

अगला मंत्र इस प्रकार है-

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं ... ... अस्मन्नाशयामसि ।
(अ. ४।१७।५)

अर्थात् दुष्वप्न्यों तथा जीवन के कष्ट इत्यादि दोषों को इस अपामार्गद्वारा हम नष्ट करते हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में अपामार्ग द्वारा दुष्वप्न्य को दूर करने का विधान मिलता है। बुरे स्वप्नों के प्रभाव से शरीर में कई ऐसी बिमारियां पैदा हो जाती हैं, जिन को अपामार्गद्वारा दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार नाना कष्टों से भी शरीर पर कोई रोग आक्रमण कर सकता है । उस को भी अपामार्गद्वारा दूर करने का विधान है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि, अपामार्ग का सीधा सम्बन्ध दुष्वप्न्यादि से न हो । परन्तु तो भी

अपामार्गद्वारा शरीर व इंद्रियादिकों की शुद्धि का वेद में बहुत वर्णन है। शरीर व इंद्रियादिकों की शुद्धिद्वारा अपामार्ग दुष्वप्न्यों के दूर करने में सहायक हो सकती है। विद्वान् वैद्य परीक्षणोंद्वारा इसके गुणों का निरीक्षण करें।

ब्रह्मद्वारा दुष्वप्न्य दूर करना।

अथर्व. ७।१००।१ में बुरे स्वप्न को दूर करने में ब्रह्म को श्रेष्ठ सहायक बताया गया है।

मंत्र इस प्रकार है-

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः।

अर्थात् बुरे स्वप्नसे उत्पन्न पाप से और स्वप्न के कारण उत्पन्न हुई अभूति से मैं अलग होता हूँ। अपने और स्वप्न के बीच में ब्रह्म को करके स्वप्न से होनेवाले शोकों को दूर करता हूँ।

इस उपर्युक्त मंत्र में बुरे स्वप्न, तदुत्पन्न पाप व अभूति आदि को रोकने का सब से श्रेष्ठ उपाय यह बताया है कि, अपने तथा स्वप्न के बीच में ब्रह्म को कर लेवें, तो स्वप्नों का प्रभाव जाता रहता है। ब्रह्म स्वप्नादि सभी दोषों को रोकने में ढाल का काम करता है। जो मनुष्य जितना ब्रह्म में लीन रहता है, उसे उतने ही कम दुष्वप्न्य आते हैं।

इसलिये दुष्वप्न्यादियों को दूर करने के लिये मनुष्य को ब्रह्म में विचरना चाहिये।

दुष्वप्न्यनिवारणसम्बन्धी कुछ फुटकर मंत्र-

कामदेवता दुष्वप्न्य।

अथर्व. ९।२।२ में काम देवता से प्रार्थना की है कि, मैं दुष्वप्न्य आदियों को परित्याग कर सकूँ।

मन्त्र इस प्रकार है।

यन्मे मनसो न प्रियम् न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति। तद् दुष्वप्न्यं प्रतिमुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम्॥

अर्थात् (यत्) जो पदार्थ (मे) मेरे (मनसः) मन का (न प्रियं) प्यारा नहीं है और (न चक्षुषः) न आंखों का और (यत्) जो (मे) मुझे (बभस्ति) झिड़कता है, अर्थात् हानि पहुंचाता है, (न अभिनन्दति) और आनन्द नहीं देता, (तत्) उस (दुष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्न तथा उस से उत्पन्न बुराइयों को (सपत्ने) रोग तथा पापादि जो शत्रु हैं, उन के लिये (प्रतिमुञ्चामि) परित्याग करता हूं। (कामम्) कामरूप परमात्मा की (स्तुत्वा) स्तुति करके (अहं उद् भिदेयम्) मैं ऊपर पहुंच जाऊं।

यह मंत्र अथर्ववेदके ९ वें कांड के द्वितीय सूक्त का मंत्र है। इस सूक्त का काम देवता है। सब की कामना को पूर्ण करनेवाले कमनीय परब्रह्म परमात्मा को कामरूप में याद किया गया है। यहाँ यह दर्शाया गया है कि, इस लोकमें परमात्मा को छोडकर और कौनसी चीज कामनाके योग्य है? अन्य कोई भी पदार्थ कमनीय अर्थात् वांच्छनीय नहीं। वही परमात्मा वांच्छनीय है। इसलिये कामों के भी काम उस परमात्मा को याद कर के मनुष्य कह रहा है कि, हे कामस्वरूप परमात्मन्! जो मेरे मन और आंखों के लिये प्रिय अर्थात् हितकर न हो, उस दुष्वप्न्य को मैं अपने से दूर करता हूँ। यहाँ एक शंका पैदा हो सकती है कि, मन व आंखें तो कई ऐसी बातों की भी चाहना करती हैं, जो कि, ऊपर से तो प्रिय मालूम देता है, परन्तु असल में वह प्रिय नहीं होता और धार्मिक दृष्टि से तो वह बिल्कुल त्याज्य होता है। इसलिये चक्षु व मन के लिये प्रिय का तात्पर्य यह है कि, जो वास्तव में प्रिय अर्थात् हितकर हो। इसी बात को दृष्टि में रखकर आगे कहा है कि, " यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति " अर्थात् जो मेरा तिरस्कार भर्त्सन आदि करता है। अर्थात् जो मुझे हानि पहुंचाता है, और मेरा अभिनन्दन नहीं करता। ऊपर से प्रिय लगनेवाले जितने भी भोग या विषयविलास हैं, वे सब परिणाम में हानि पहुंचानेवाले होते हैं। अतः वे प्रिय अर्थात् हितकर नहीं हो सकते।

एक बातका और ध्यान रखना चाहिये, वह यह कि, मनुष्य प्रकृति तथा विषयों का उपभोग अवश्य करेगा और उस की कामनायें अर्थात् इच्छायें भी होंगी। इन का परित्याग वह कभी भी नहीं कर सकता। जैसा कि गीतामें कहा है कि, " न चेहास्त्यकामता " अर्थात् इस संसार में कोई भी बिल्कुल कामरहित नहीं हो सकता। इसलिये काम जब अवश्य रहना है, तो किस किस सीमा तक

हो, वह किस प्रकार का हो, यह निर्णय करना चाहिये। क्योंकि यहाँ परमात्मा को कामरूपमें याद किया गया है।

इसलिये यहाँ काम भी सात्त्विक होना चाहिये। प्रकृति तथा विषयादिकों का उपभोग उतना ही होना चाहिये, जिस से कि कामरूप परमात्मा की अभिलाषा बनी रहे। परमात्मा की कामना करनेवाले व्यक्ति को दुष्वप्न्य नहीं सता सकते। इसलिये इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि, स्वप्नों तथा उन के परिणामों से बचने के लिये प्रकृति तथा विषयों का कितना उपभोग करना चाहिये। यह परमात्मा के विशुद्ध कामरूप को जानकर ही निश्चय कर सकते हैं।

जब हम परमात्मा के विशुद्ध कामरूप को जान लेंगे, तो अन्य विषयादिकों की कामनायें भी उसी परमात्मा के कामरूप के अनुसार होंगी और बुरे स्वप्नादि हमें न आयेंगे। इसलिये मंत्र में कहा कि, " **कामं स्तुत्वोदहं मिदेयम्** " अर्थात् मैं कामरूप परमात्मा की स्तुति करके ऊपर उठ गया हूँ। विषयों तथा भोगों की कामा-सक्ति में नहीं पड़ा रहता। अगले मन्त्रमें बुरे स्वप्नों को दूर करने के सम्बन्ध में भी कुछ कहा गया है। वह भी हम यहाँ दिखा देते हैं।

मन्त्र इस प्रकार है।

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगता-मवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रतिमुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्य-मंहूरणा चिकित्सात्॥

हे (**काम**) कामना योग्य परमात्मन्! (**दुष्वप्न्यम्**) दुष्ट स्वप्न तथा उन से होनेवाले पापादिकों को (**काम**) और हे कामनायोग्य प्रभो! (**दुरितं च**) दुरित अर्थात् पाप आदियों को (**अप्रजस्ताम्**) प्रजा के अभाव वा (**अस्वगताम्**) निर्धनता तथा (**अवर्तिम्**) अनिष्ट को हे (**उग्रः**) उग्ररूप (**ईशानः**) सबके ईश परमात्मन्! ये सब आपत्तियां (**तस्मिन् प्रतिमुञ्च**) उस के ऊपर छोड़, (**यः**) जो (**अस्मभ्यम्**) हमारे लिये (**अंहूरणा चिकित्सात्**) पापकर्मों को चाहे।

इस मंत्र में बुरे स्वप्नों तथा उन से उत्पन्न बुराइयों को विनाश करनेके लिये परमात्मासे प्रार्थना की गई है। आगे दुरित, प्रजा अर्थात् सन्तान आदि का अभाव, निर्धनता आदि को भी दूर करनेके लिये परमात्मा से प्रार्थना की गई है। सन्तान आदि का अभाव, निर्धनता आदि भी दुष्वप्न्योंके मूल कारण हैं। इनके होने पर दुष्वप्न्य आदि पैदा होते हैं। परमात्मा से प्रार्थना है कि, हे सब के स्वामिन्! तू दुष्वप्न्यों तथा उन के मूल कारणों को विनष्ट कर।

इस मंत्र में परमात्मा को " **उग्रः** " तथा " **ईशानः** " इन शब्दों से याद किया गया है। इन शब्दों से परमात्मा को यहाँ याद करने का भी कोई विशेष प्रयोजन है। राष्ट्र में सन्तानाभाव, निर्धनता, जीविका आदि का न होना उसी अवस्था में होता है, जब कि, राष्ट्र में परमात्मा के नियमों का पालन न किया जाता हो।

सन्तमहात्माओं की अवहेलना तथा गरीबों का शोषण होता हो। उस अवस्था में परमात्मा के उग्र रूप का ही सब स्मरण करते हैं। क्योंकि वह परमात्मा अपने उग्र रूप से राष्ट्र की प्रजाओं को सुखी न रखनेवाले तथा गरीबों को शोषण करनेवाले मनुष्यों का विनाश किया करता है। और दूसरे उस के ईशान नाम से यह भाव प्रकट होता है कि, वह परमात्मा सब का स्वामी है। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं, जिस का वह परमात्मा स्वामी न हो।

यही स्वामित्व का भाव- ' **ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।**' इस मन्त्र में प्रकट किया गया है, अर्थात् इस सम्पूर्ण जगतीमें जितने भी चराचर वस्तु हैं, उन सब का वह परमात्मा स्वामी है। इसलिये त्यागपूर्वक उपभोग करो, लालच मत करो। क्योंकि यह सब धन उस परम पिता परमात्माका ही है। इसलिये जो व्यक्ति धनादि ऐश्वर्य पर अपनापन समझता है, स्वामित्व समझता है, तथा गरीबों का शोषण करता है, उसको ठीक रास्ते पर लगानेके लिये परमात्मा को उग्र तथा ईशान रूप में याद किया गया है। और बुरे स्वप्नों तथा उन के मूल कारणों पापादियों से बचने के लिये भी परमात्मा के उग्र रूप तथा सर्वस्वामित्व के स्वरूप का याद रखना सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

ब्रह्मगवी–दुष्वप्न्य।

अथर्व. काण्ड १२ सू. ५।४ ब्रह्मगवी सूक्त है। अर्थात् इस में ब्राह्मण की गौ का वर्णन किया गया है। इस सूक्त

में ब्रह्मगवी के स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। संक्षेप में उस के स्वरूप के सम्बन्ध में बता कर, फिर स्वप्नसे सम्बन्ध रखनेवाला मन्त्र भी दर्शाते हैं। ब्रह्मगवी के स्वरूप का निदर्शक मन्त्र इस प्रकार है–

'श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता।'
(अथर्व. १२।५।१)

अर्थात् वह वेदवाणी (श्रमेण) बडे परिश्रमके साथ तथा (तपसा) बडी तपश्चर्याके पश्चात् (सृष्टा) उत्पन्न की गई है। (ब्रह्मणा) उस परब्रह्म परमात्मा से (वित्ता) प्राप्त की है और (ऋते श्रिता) सत्यनियमोंके अर्थात् ज्ञान में ठहरी हुई है। आगे कहा है–

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता।
(अ. १२।५।(१)२)

अर्थात् (सत्येन आवृता) सत्य से ढकी (श्रिया प्रावृता) श्री शोभा तथा कांति से घिरी हुई (यशसा परीवृता) कीर्तिके द्वारा चारों ओरसे व्याप्त हुई हुई है।

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता
यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्' (अ. १२।५।(१)३)

(स्वधया) स्वधा स्वयं त्रिकालों में रहने की शक्ति से (परिहिता) सुरक्षित है, (श्रद्धया) श्रद्धाके द्वारा (पर्यूढा) ब्राह्मणोंने वहनकी हुई है, (दीक्षया) दीक्षा के द्वारा (गुप्ता) रक्षित होती है, (यज्ञे) यज्ञों में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है, (लोकः) यह संसार भी (निधनम्) उस का स्थितिस्थान है। आगे कहा है कि–

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः (अथर्व. १२।५।(१)४)

अर्थात् (ब्रह्म) परमात्मा ही (पदवायं) उस वेदवाणी के पदों को दर्शानेवाला है और (ब्राह्मणोऽधिपतिः) ब्राह्मण को उस का अधिपति स्वामी बनाया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

इस ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी के सम्बन्ध में आगे कहा गया है कि–

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रि-
यस्य अपक्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः।
(अथर्व. १२।५।११५,६)

अर्थात् (तां ब्रह्मगवीं) उस ब्रह्मगवी अर्थात् वेद-वाणी को (आददानस्य) छीननेवाले तथा (ब्राह्मणं जिनतः) ब्राह्मण को सतानेवाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (सूनृता) सूनृत वाणी, (वीर्यं) वीरता तथा (पुण्या लक्ष्मीः) पुण्य वा पवित्र लक्ष्मी (अपक्रामति) उसे छोडकर भाग जाती है।

उपर्युक्त मन्त्रोंमें दर्शायी हुई ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी को और ब्राह्मण को जो सताता है, वह क्षत्रिय विनष्ट हो जाता है। इसलिये क्षत्रिय का यह कर्तव्य है कि, वह ब्रह्मगवी तथा ब्राह्मण की रक्षा करे। यदि क्षत्रिय अर्थात् राजा आदि इस वेदवाणी की रक्षा नहीं करता, तो उस के लिये आगे यह भी कहा है–

अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्वा। (अ. १२।५।(४)३१)

अर्थात् वह ब्रह्मगवी (पच्यमाना) पचाई जाती हुई (अघं) पाप को पैदा करती है और (पक्वा) पककर (दुष्वप्न्यं) बुरे बुरे स्वप्नों को तथा उन की बुराइयों को पैदा करती है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि जो, वेद-वाणी को राष्ट्र में प्रचारके लिये रोकता है, उसकी आज्ञाओं के अनुसार न अपना जीवन व्यतीत करता है और न दूसरों को बिताने देता है। वेद कहता है कि, उस को पाप लगता है और जब वह वेदवाणी उस के प्रयत्नों के कारण रुक जाती है, तब वेद की शिक्षाओं के न देने से वेद की आज्ञाओं के अनुसार जीवन न व्यतीत करने से मनुष्यों के अन्दर पाप, अविद्या तथा दुष्वप्न्यादियों का प्रादुर्भाव होता है। इसलिये मन्त्रमें कहा कि, जो वेदवाणी को पचा जाता है, अर्थात् उसकी शिक्षाके अनुसार अपना जीवन नहीं बिताता, उसे पहले एक तो पाप लगता है, और दूसरे वह कुकर्मों तथा दुष्वप्न्यादियोंमें प्रवृत्त होता है।

सोते हुए पाप करना।

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥
(अ. ६।११५।२)

(यदि जाग्रत्) यदि जागते हुए (यदि स्वपन्) अथवा सोते हुए (एनस्यः) मुझ पापीने (एनः अकरम्) पाप किया हो (तस्माद्) उस पापसे (मा) मुझे (भूतं भव्यं च) भूत और भविष्य (द्रुपदादिव मुंचताम्) लकडी के बने खूंटे आदि से जिस प्रकार बैल

यथा गौ आदि को छुड़ा देते हैं, उसी प्रकार छुड़ा देवें।

प्रायः मनुष्य यह समझते हैं कि, जागते हुए ही पाप आदि किये जा सकते हैं, सोते हुए नहीं। परन्तु वेदमंत्र कहता है कि, जागते हुए ही नहीं अपितु सोते हुए भी हम पाप करते हैं। सोते हुए किस प्रकार के पाप होते हैं, यह विचारणीय विषय है। सम्भवतः सोते हुए पापों से तात्पर्य दुष्वप्न्यों से हो। शरीर तथा इंद्रियां आदि सोते हुए कार्य नहीं कर रही होतीं, केवल मन ही सोते हुए व्यापार करता है। इसलिये मन से पापादियों का होना सम्भव है। सोते हुए पाप इत्यादि दुष्वप्न्य अर्थात् बुरे स्वप्नों के ही रूप में हो सकते हैं। बुरे स्वप्नों का भी लेना मन पर बहुत असर करता है। कोई मनुष्य शरीर से पाप न भी करता हो, परन्तु यदि वह मन से प्रतिरात्रि बुरे बुरे स्वप्न देखने लगे, तो दिन में भी जागते हुए वह पाप करने लगेगा। क्योंकि मन ही सब कार्यों को कराता है। रात्रि में देखे हुए बुरे स्वप्नों का प्रभाव मन पर अवश्य पड़ता है। और यह स्वप्न में पड़ा प्रभाव अवश्य ही दिन में कार्य में परिणत होने का प्रयत्न करेगा। इसलिये मन्त्र में कहा कि, जो जागते हुए तथा सोते हुए हमने पाप किया है, उस से हम छूट जावें। किस प्रकार? जिस प्रकार कि बैल आदि खूंटे से छूट जाते हैं।

अब विचारणीय यह है कि, कौन छुड़ावे? इस के लिये वेदने कहा कि, "भूत और भव्य" अर्थात् भूतकाल और भविष्यकाल मुझे बुरे स्वप्नों से बचावें। भूत और भविष्यकाल मनुष्य को बुरे स्वप्नों से इसी तरह से बचा सकते हैं कि, मनुष्य को भूतमें जो बुरे स्वप्नों का कटु अनुभव हुआ है, भविष्य में उस से बचने के लिये वर्तमान में वह उनको दूर करने का बहुत बहुत प्रयत्न करता है। भूत की भयंकरता को याद कर के भविष्य को सुखी बनाने की आशा में ही वह दुष्वप्न्य आदि पापों से बचने का प्रयत्न करता है। इसलिये वेद में कहा कि, भूत और भविष्य हमें पाप से बचावें।

देवों से हेय स्वप्न।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति
यन्ति प्रमादमतन्द्राः। (ऋ. ८।२।१८)

अर्थात् (देवाः) दिव्य पुरुष व दिव्य भाव (सुन्वन्तं) सवन, उत्पत्ति, यज्ञ आदि करनेवाले को (इच्छन्ति) चाहते हैं। (स्वप्नाय) सोनेवाले, आलसी तथा स्वप्न लेनेवाले को (न स्पृहयन्ति) नहीं चाहते हैं। अथवा आलस्य तथा स्वप्न आदियों को नहीं चाहते हैं। (अ-तन्द्राः) आलसी न होते हुए वे (प्रमादम्) प्रकृष्ट वा श्रेष्ठ आनन्द को (यन्ति) प्राप्त करते हैं।

इस मंत्र में "स्वप्न" शब्द केवल स्वप्न के लिये ही नहीं आया। अपितु आलस्य आदि का भी वाचक होकर आया है, इस मन्त्र में बताया गया है कि देवपुरुष सवन अर्थात् यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों तथा उन कर्मों को करने-वाले पुरुषों को चाहते हैं। अर्थात् उन से प्रेम करते हैं। स्वप्न, आलस्य आदि दुर्गुणों तथा ऐसे पुरुषों को वे बिल्कुल नहीं चाहते। दूसरे (देवाः) का अर्थ दिव्य गुण करने पर भी यही भाव है कि, दिव्य गुण भी उसी पुरुष में प्रवेश करते हैं, जो कि यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों को करता है। आलस्य तथा स्वप्न आदि दुर्गुणों के वे पास तक नहीं फटकते। इसलिये इस से यह उपदेश दिया कि, दिव्य पुरुष बनने के लिये अथवा दिव्य गुणों को धारण करने के लिये यज्ञादि श्रेष्ठ कार्म करो, कोई सवन करो, अर्थात् उत्पत्ति (Construction) करो। उत्पत्ति में ही शक्ति खर्च हो, विनाश (Destruction) में नहीं। और इस से यह भी स्पष्ट हो गया है कि, स्वप्न तथा आलस्य आदि को दूर करने का एक यह भी उपाय है कि, सव-नादि श्रेष्ठ कर्म किये जायें। इसलिये हरएक व्यक्ति को स्वप्न आदि दुर्गुणों से बचने के लिये कोई भी कर्म करने से पहले सदा यह सोचना चाहिये कि, मेरा यह अमुक कर्म विनाश करनेवाला तो नहीं यदि विनाश करनेवाला है, तो यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि, यह विनाशकारी कर्म अवश्य ही स्वप्नादि दुर्गुणों को पैदा करेगा।

स्वप्न-विनाश।

अध स्वप्नस्य निर्विदेऽभुञ्जतश्च रेवतः।
उभा ता बस्नि नश्यतः॥ (ऋ. १।१२०।१२)

(अध) और (स्वप्नस्य) आलसी तथा स्वप्न लेनेवाले तथा (अभुञ्जतश्च रेवतः) स्वयं ऐश्वर्य का भोग न करनेवाले तथा औरों का पालन न करनेवाले

ऐश्वर्यशाली पुरुष से मैं (निर्विदे) उदासीन हूँ, अर्थात् दोनों को ही निकम्मा समझता हूँ। क्योंकि (ता उभा) वे दोनों (वस्रि) औरों को सुख न देने से शीघ्र ही (नश्यतः) नष्ट हो जाते हैं। इस मंत्र में भी यह बताया गया है कि, आलसी तथा स्वप्न लेनेवाला, और ऐश्वर्य का स्वयं उपभोग न कर के तथा दूसरों को भी उस से सुख न पहुंचानेवाला कंजूस आदमी, दोनों ही घृणाके पात्र हैं। इनसे मनुष्य को बचना चाहिये। कभी भी इनकी संगति नहीं करनी चाहिये। यह अपना तो विनाश करते ही हैं। परन्तु समाज को भी अपने दुर्गुणों के कारण हानि पहुंचाते हैं। इसलिये यह यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि, आलसी तथा स्वप्न लेनेवाला आदमी शीघ्र विनाश को प्राप्त हो जाता है।

स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्र दभीतिमावः। रम्भी चिदत्र विविदे हिरण्यं सोमस्य ता मद इंद्रश्चकार॥

(ऋ. २।१५।९)

(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (स्वप्नेन) स्वप्नादि के द्वारा (चुमुरिं) दूसरों के ऐश्वर्य पर मुंह लगानेवाले, (धुनिम्) अन्यों को दुःख देनेवाले (दस्युम्) दुष्ट पुरुष को (अभि उप्य जघन्थ) चारों ओर से उखाड कर विनष्ट कर देता है, तथा (दभीति) हिंसक प्राणी को (आवः) उस के हिंसा आदि की प्रवृत्ति को दूर कर के श्रेष्ठ रूप में बनाकर रखता है। (अत्र) इस राष्ट्र में (रम्भी चित्) श्रेष्ठ कर्म करनेवाला परिश्रमी व्यक्ति ही (हिरण्यम् विविदे) सुवर्णादि ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, (सोमस्य ता मद) सोमरूप ऐश्वर्य की प्राप्ति के आनंद में ही वह व्यक्ति उन कर्मों को (चकार) करता है।

इस मन्त्र में राजा का यह कर्तव्य बताया गया है कि, जो व्यक्ति सदा आलस्य तथा स्वप्नादि दुर्गुणों में व्यस्त रहकर अपने भोगविलास के लिये दूसरों के धनों को लूटना चाहते हैं, स्वयं तो कोई परिश्रम नहीं करते, अपितु दूसरे परिश्रमी व्यक्तियों के धनों को छीनने के लिये सदा नाना भांति के बुरे स्वप्न लिया करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का विनाश करना राजा का कर्तव्य बताया गया है, राष्ट्र का भी ऐसा नियम होना चाहिये कि, सुवर्णादि ऐश्वर्य भी उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हों जो कि सदा उद्योगी, परिश्रमी हों। इसलिये इस मन्त्र में स्वप्न लेनेवाले आलसी व्यक्तियों का विनाश करना तथा किसी की संपत्ति को लूट न सकें, ऐसा प्रबन्ध करना राजा का कर्तव्य बताया गया है।

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते। प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥

(अ. २०।९६।१६)

यह मंत्र जिस सूक्त का है, उस का देवता महर्षि दयानन्दने " गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम् " ऐसा माना है। इस उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है-

(यः) जो राक्षस (त्वा) तुझे (स्वप्नेन) स्वप्नरूपी (तमसा) अन्धकार से (मोहयित्वा) मोहकर (निपद्यते) तेरे पास आता है और (यः) जो (ते प्रजां) तेरी प्रजा आदि सन्तति को (जिघांसति) मारना चाहता है, (तमितो) उस को हम यहां से (नाशयामसि) विनष्ट कर देते हैं।

अर्थात् रात्रि में सोते हुए स्त्री को कोई ऐसा भयंकर स्वप्न दिखाई दे, जिस से कि यह प्रतीत हो कि कोई दुष्ट राक्षस इस के गर्भ को गिराना चाहता है, तो मन्त्र में उस के विनाश के लिये प्रार्थना की गई है। स्वप्न को यहां पर " तमस् " शब्द विशेषण दिया गया है। तमस् अन्धकार, अज्ञानादि को कहते हैं। इस से यह पता चलता है कि, रात्रि में सोते हुए या अन्धकार में गर्भवती स्त्री को उपर्युक्त दुःस्वप्न दिखाई दे सकते हैं। और वे इतने भयंकर भी हो सकते हैं कि, गर्भपात तक हो जावे। इसलिये ऐसे दुःस्वप्नों को दूर करने का मन्त्र में विधान किया गया है।

शूरता के लिए विख्यात हो चुके हैं। इन का युद्ध-कौशल बडा ही विस्मयजनक है। निम्ननिर्देश देखिए—

अग्निगावः पर्वता इव मज्मना प्रच्यावयन्ति।
(११०) ऋ. १।६४।३

युवानः मज्मना प्रच्यावयन्ति।
(११०) ऋ. १।६४।३

' आगे बढनेवाले ये वीर अपनी जगह पहाड की नाईं स्थिर रहकर अपने सामर्थ्य से दुश्मन को हिला देते हैं।' ये वीर—

पर्वतान् प्र वेपयन्ति। (४०) ऋ. १।३९।५

' पहाड की तरह सुस्थिर एवं अडिग शत्रुको भी थरथर कंपायमान बना देते हैं।' इन का पराक्रम इतना प्रचंड है और उसी प्रकार -

(हे) तविषीयवः! यत् यामं अचिध्वं
पर्वताः नि अहासत। (४७) ऋ. ८।७।२

' हे बलिष्ठ वीरो! जब तुम हमले चढाते हो, तब पहाड के तुल्य स्थिर प्रतीत होनेवाले प्रबल शत्रुओं को भी डगडग हिला देते हो।'

वृष्णि पौंस्यं चक्राणा पर्वतान् वि ययुः।
(८८) ऋ. ८।७।२३

' बडा भारी पौरुष करनेहारे तुम वीर सैनिक पहाडों को भी तोडकर आगे निकल जाते हो।'

अयासः स्वसृतः ध्रुवच्युतः दुध्रकृतः भ्राज-
दृष्टयः आपथ्यः न पर्वतान् हिरण्ययेभिः
पविभिः उज्जिघ्नन्ते॥ (११८) १।६४।११

' हमला करनेवाले, अपनी आयोजना के अनुसार प्रगति करनेवाले, स्थायी दुश्मनों को भी उखाड फेंकनेवाले, जिनके आगे जाना दूसरों के लिए असंभव है ऐसे, तेजःपुञ्ज हथियार धारण करनेवाले, राहपर पडा हुआ तिनका जिस तरह हटाया जाता है, वैसे ही पर्वतों को, सुवर्णविभूषित रथ के पहियों से या चक्राकारवाले हथियारों से उडा देते हैं।' इन का पराक्रम ऐसा ही विलक्षण है।

(हे) धूतयः! मानं परावतः इत्था प्र अस्यथ।
(४५) ऋ. १।३९।१

' हे शत्रुदल को विकंपित करनेवाले वीरो! तुम अपना हथियार बहुत दूर से भी इधर फेंक देते हो। इस तरह तुम्हारा अस्त्र फेंक देने का सामर्थ्य है।'

(हे) धूतयः! परिमन्यवे इषुं न द्विषं सृजत।
(४५) ऋ. १।३९।१०

' हे शत्रुदलको हिला देनेवाले वीरो! चारों ओरसे घेरनेवाले शत्रु पर जिस तरह बाण छोडे जाते हैं, वैसे ही तुम तुम्हारे शत्रुको ही दूसरे शत्रुपर छोड दो। अर्थात् तुम्हारा एक दुश्मन उस दूसरे शत्रुसे लडने लगेगा, जिस के फल-स्वरूप दोनों आपसमें जूझकर हतबल हो जायेंगे और उनके क्षीण होनेपर तुम्हारी विजय आसानी से होगी।' शत्रुको शत्रुसे भिडन्त करने का यह उपाय सचमुच बहुत विचारणीय है। युद्धका यह एक बडा ही महत्त्वपूर्ण दाँव-पेच है।

एषां यामेषु पृथिवी भिया रेजते।
(१३) ऋ. १।३७।८

' इन वीरोंके आक्रमण के समय समूची पृथ्वी मारे डर के काँप उठती है।' इन का हमला इतना तीव्र हुआ करता है।

शूरा इव युयुधयः न जग्मयः, श्रवस्यवः न
पृतनासु येतिरे। राजानः इव त्वेषसंदृशः
नरः, मरुद्भ्यः विश्वा भुवना भयन्ते॥
(१३०) ऋ. १।८५।८

' शूरों के समान और युद्धोत्सुक रणबाँकुरे सिपाहियों के तुल्य शत्रुसेना पर टूट पडनेवाले तथा यश की इच्छा करनेवाले वीरों के जैसे ये वीर मरुत् समरभूमि में बडी भारी शूरता दिखाते हैं। नरेशों के तुल्य तेजभरे दिखाई देनेवाले ये वीर हैं, इसीलिए सारे भुवन इन वीर मरुतों से भयभीत हो उठते हैं।'

इस भाँति इन वीरोंकी युद्धचेष्टाओं के वर्णन वेदमंत्रों में पाये जाते हैं, जो कि सभी ध्यानपूर्वक देखनेयोग्य हैं।

मरुत् वीरों का दातृत्व।

वीर मरुत् बडे ही उदार प्रकृतिवाले हैं, तथा खूब खुले दिल से दान देने के कारण ' सु-दानवः ' पद से इन्हें सम्बोधित किया है, जिस का कि अर्थ है ' बडे अच्छे दानी।' मरुतों के सूक्तों में यह विशेषण इन्हें कई बार दिया गया है।

सुदानवः। (५) ऋ. १।१५।२; (४५) ऋ. १।३९।१०; (५७) ऋ ८।७।१२; (६४) ऋ. ८।७।१९ आदि। इस तरह यह पद मरुतों के लिए अनेक बार सूक्तों में प्रयुक्त हुआ है। उसी प्रकार—

एषां दाना मह्ना। (९५) ८।२०।१४

वः दात्रं व्रतं दीर्घम्। (१६९) ऋ. १।१६६।१२

' इन वीरों का दान बहुत बडा है और देन देने का व्रत बडा प्रचंड है। ' इन के दातृत्व का वर्णन मरुत्-सूक्तों में इस तरह पाया जाता है। वीर पुरुष हमेशा उदारचेता बने रहते हैं। जिस अनुपात में शूरता अधिक, उतने अनुपात में उदारता भी ज्यादह पाई जाती है। यह स्पष्ट है कि, मरुतों की शूरता उच्च कोटिकी थी और दातृत्व भी बहुत बढाचढा था।

मानवों का हित करनेहारे वीर।

' नर्य ' पद, (नराणां हिते रत.) मानवों के हित करने में तत्पर, इस अर्थ में वेद में अनेक बार पाया जाता हैं। मरुतों के लिए भी इस पद का प्रयोग किया है। देखो (१६२) ऋ १।१६६।५ और उसी प्रकार—

नर्येषु बाहुषु भूरीणि भद्रा। (१६७) ऋ. १।१६६।१०

' मानवों के हितार्थ कार्यनिमग्न इन वीरों की भुजाओं में बहुतसे हितकारक सामर्थ्य विद्यमान हैं। ' ये वीर मानवों को सुख देते हैं, इस संबंध में यह मंत्र-भाग देखिए-

(हे) मयोभुवः! शिवाभिः नः मयः भूत।
(१०५) ऋ. ८।२०।२४

' सब को सुख देनेवाले हे मरुतो! अपनी कल्याण-कारक शक्तियों से हमें सुख देनेवाले बनो। '

अस्मे इत् व: सुम्नं अस्तु। (२४२) ऋ. ५।५३।९

' हम सभी को तुम्हारा सुख प्राप्त होवे। ' मरुत् समूची मानवजाति को सुख देते हैं और वह हमें उन से मिल जाय। सुख देना मरुतोंका धर्म ही है और वे हमेशा उस कार्य को निभाते ही रहेंगे; परन्तु ठीक समयपर उनके साथ रह कर वह उन से प्राप्त करना चाहिए। ये सदैव सत्कर्म करते रहते हैं।

सुदंससः प्र शुम्भन्ते। (११३) ऋ. १।८५।१

' ये शुभ कार्य करनेवाले वीर अपने शुभ कार्योंसे ही सुहाते हैं। ' मानवों के हित जिनसे हों, वे ही शुभ कार्य हैं।

कुलीन वीर।

वीर मरुत् उत्कृष्ट परिवार में जन्म लेते हैं, इसलिये वेदने उन्हें ' सुजाता. ' उपाधि से विभूषित किया है।

सुजातासः नः भुजे नु। (८९) ऋ. ८।२०।८

सुजाताः मरुतः तुविद्युम्नासः अद्रिं धनयन्ते।
(१५३) ऋ. १।८८।३

सुजाताः मरुतः! वः तत् महित्वनम्।
(१६९) ऋ. १।१६६।१२

' उत्कृष्ट परिवार में उत्पन्न ये वीर बहुत बडे हैं। वे स्वयं तेजस्वी होने के कारण पर्वत को भी धन्य करते हैं। ये कुलीन वीर अपनी शक्ति से महत्त्व को प्राप्त होते हैं। ' इस प्रकार इनकी कुलीनताका बखान वेदने किया है।

ऋण चुकानेवाले।

ध्यानमें रहे, ये वीर ऋण करते नहीं रहते, अपितु तुरन्त उसे चुकाते हैं। इनकी मनोवृत्ति ऐसी है कि किसी के भी ऋणी न रहें, इसलिए उऋण होनेकी चेष्टा करते हैं। देखिए—

ऋण-यावा गणः अविता। (१४८) ऋ. १।८७।४

' ऋण को चुकानेवाला यह वीरों का संघ सब का संरक्षण करनेवाला है। ' यहाँपर बतलाया है कि ऋण चुकाना महत्त्वपूर्ण गुण है, जो इनके वीरत्व के लिए बडाही भूषणास्पद है। निस्सन्देह, ऋण चुकाना नागरिक लोगोंके लिए बडा भारी गुण है।

निर्दोष वीर।

अबतक का मरुतोंका वर्णन देखा जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे पूर्ण रूपसे दोषरहित हैं। किसी भी प्रकार की त्रुटि या न्यूनता इन में नहीं पाई जाती है। इस संबंध में निम्नलिखित वेदमन्त्र देखिए—

अनवद्यैः गणैः। (३) ऋ. १।६।८

स हि गणः अनेद्यः। (१४८) ऋ. १।८७।४

ते अरेपसः। (१०९) ऋ. १।६४।२

अरेपसः स्तुहि। (२३६) ऋ. ५।५३।३

' मरुतों का यह संघ नितान्त निर्दोष एवं अनिन्दनीय

है। पाप से कोसों दूर तथा अपवादरहित हैं। ऐसे निरागस वीरों की सराहना करो।'

जो दोषों से बिलकुल अछूते हों, उन की ही स्तुति करनी चाहिए। यूंही किसी की खुशामद या चापलूसी करना ठीक नहीं। जैसे ये वीर निर्दोष आचरणवाले होते हैं, वैसे ही वे निर्मल या साफसुथरे भी रहा करते। उदाहरणार्थ—

अरेणवः हुळ्हानि अचुच्यवुः।

(१८६) ऋ. ११६८।४

'ये साफसुथरे वीर सुदृढ विरोधियों को भी पदच्युत कर देते हैं।' यहाँपर 'अ-रेणवः' पदका अर्थ है वे, जिन के शरीरपर धूल न हो; देहपर, कपडोंपर, हथियारोंपर धूलिकण नहीं दिखाई पडे। ऐसे वीर जो अत्यन्त सफाई तथा अलबेलापन अक्षुण्ण बनाये रहते हैं। उसी तरह-

ते परुष्ण्यां शुन्ध्युवः ऊर्णा वसत।

(२२५) ऋ. ५।५२।९

'वे वीर परुष्णी नदी में नहा धोकर साफसुथरे बनकर ऊनी कपडे पहन लेते हैं।' इस ऊनी वस्त्रप्रावरण के प्रमाण से स्पष्ट होता है कि ये वीर शीत कटिबन्ध में निवास करते थे। परुष्णी नदी शीतप्रधान भूविभाग में बहती है, सो स्पष्ट ही है। पहले रथों का बखान करते हुए हम बतला चुके कि हरिणोंद्वारा खींचे जानेवाले तथा पहियों से रहित वाहनों का उपयोग वीर मरुत् कर लिया करते थे। ऐसे वाहन बर्फीले भूभागोंपर ही अधिक उपयुक्त हुआ करते, अतः यह भी एक प्रमाण है कि ये वीर शीत-कटिबन्ध के निवासी थे।

मरुतों का संपर्क।

चूँकि मरुतोंमें इतने विविध सद्गुण विद्यमान हैं, अतः उनके सहवास में रहने से सभी लाभ उठा सकते हैं, यह दर्शाने के लिये निम्न वचन उद्धृत किये जाते हैं।

वः आपित्वं सदा निध्रुवि अस्ति।

(१०३) ऋ. ८।२०।२२

यस्य क्षये पाथ स सुगोपातमो जनः।

(१३५) ऋ. १।८६।१

स मर्त्यः सुभगः अस्तु, यस्य प्रयांसि पर्षथ।

(१४१) ऋ. १।८६।७

'इन वीरों की मित्रता स्थिर स्वरूप की है, इनकी मित्रता चिरंतन स्वरूप की है। जिस के घर में ये सोमरस का पान करते हैं, वह पुरुष अत्यन्त सुरक्षित रहता है; जिसके घर जाकर ये वीर अन्नग्रहण करते हैं, वह सचमुच भाग्यवान बने।'

यः वा नूनं असति, सः वः ऊतिषु सुभगः आस।

(९६) ऋ. ८।२०।१५

'जो इन वीरों का ही बनकर रहता है, वह इनके संरक्षणों से अकुतोभय होकर भाग्यशाली बन जाता है।' उसी तरह-

युष्माकं युजा आधृषे तविषी तना अस्तु।

(३९) ऋ. १।३९।४

'जो तुम्हारे साथ रहता है, उस का बल दुश्मनों की धज्जियाँ उडाने के लिये बढता ही रहता है।'

यस्य वा हव्या वीतये आगथ, सः द्युम्नैः वाजसातिभिः वः सुम्ना अभि नशत्।

(५७) ऋ. ८।२०।१६

'हे वीरो! जिस के घर में तुम हविष्यान्न या प्रसादका सेवन करने के लिये जाते हो, वह रत्नों से और अन्नों से तुम्हारे दान किये हुए विविध सुखों का उपभोग करता है।'

इस प्रकार, मरुतों के अनुयायी होने से लाभान्वित बन जाने की सूचना वेदने दी है।

मरुतों का धन।

ध्यान में रहे कि मरुत् विजयी वीर हैं, जिन के शब्द-संग्रह में पराभव के लिये स्थान नहीं है और बडे भारी उदार होते हुए अनुपम दानशूरता व्यक्त करते हैं, अत ऐसा अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं कि असीम धनवैभव उन के निकट हो। देखना चाहिए कि मरुत्सूक्तों में उनकी धनिकता के बारे में क्या कहा है—

मरुद्-मंत्रसंग्रह (२) १।६।६ में 'विद्वद्वसु' ऐसा गुणबोधक पद इन वीरों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस पद का अर्थ धन की योग्यता भली भाँति जाननेवाला याने धन पाना और उसकी योग्यता पहचानना भी स्पष्टतया सूचित होता है। मरुतों में यह गुण विद्यमान है, सो उनके धन-संग्रह करने तथा धन का वितरण करने से स्पष्ट होता है।

धन किस भाँति का हो, इस संबंधमें निम्न मन्त्र बडा अच्छा बोध देता है।

(हे) मरुतः ! मदच्युतं पुरुक्षुं विश्वधायसं रयिं आ इयर्त। (५८) ऋ. ८।७।१३

' हे वीर मरुतों ! शत्रु के घमंड को हटानेवाले, हमें पर्याप्त प्रतीत होनेवाले, सब का धारणपोषण करनेहारे धन का दान करो। ' यहाँ पर ठीक तौर से बताया है कि धन किस तरह का हो। जिस धन से शत्रु का घमंड या वृथाभिमान उतर जाए, इस ढंग की शूरता हममें बढानेवाला पर हम में घमंड न पैदा करनेवाला धन हमें चाहिए। सभी तरह की धारणशक्ति को वृद्धिंगत करनेवाला, हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति भली भाँति करनेवाला धनवैभव प्राप्त हो। अर्थात् ही जिस धनको पाने से गर्व, अभिमान बढकर भाँति भाँति के प्रमाद हों, जो अपर्याप्त होता है, तथा जिस से अपनी शक्ति क्षीण होती रहे, ऐसा धन हम से कोसों दूर रहे। हर कोई धन के इन गुणों को सोचकर देखे। ऐसे उत्कृष्ट धनको मरुत् हमेशा साथ रख लेते हैं।

रयिभिः विश्ववेदसः। (११७) ऋ. १।६४।१०

ऐसे धन मरुतों के निकट पर्याप्त मात्रा में रहते हैं, इसीलिए कहा है कि ' मरुत् सर्वधनसम्पन्न हैं। ' धन के गुणों एवं अवगुणोंको बतलानेवाला एक और मंत्र देखिए-

(हे) मरुतः ! अस्मासु स्थिरं वीरवन्तं ऋतीषाहं शतिनं सहस्रिणं शूशुवांसं रयिं धत्त।

(१२२) ऋ. १।६४।१५

' हे वीर मरुतो ! हमें यह धन दो, जो स्थायी स्वरूप का हो, वीरों से युक्त हो, शत्रु का पराभव करने के सामर्थ्य से पूर्ण तथा सैकडों और हजारों तरह का यश देनेवाला हो। ' धन का स्वरूप कैसे रहे, सो यहाँपर बताया है। धन तो किसी तरह मिल गया, लेकिन तुरन्त खर्च होने से चला गया, ऐसा क्षणभंगुर न हो, वह पुश्तदरपुश्त विद्यमान हो और चिरकालतक उस का उपभोग लिया जा सके। वह वीरतापूर्ण भाव बढानेवाला हो, नकि कायरताके विचार। धन कमाने के बाद उस की रक्षा करने का सामर्थ्य भी बढता रहे और धन की मात्रा बढने से अधिक वीर संतान उत्पन्न हो। नहीं तो ऐसी अनवस्था होगी कि इधर धनवैभव बढता है, पर निपुत्रिक या सन्तानहीन हो जाने का डर है। विरोधियों का प्रतिकार करने की क्षमता भी बढती रहे और यशस्विता भी प्रतिपल वर्धिष्णु हो। जिस धन से ये सभी अभीष्ट बातें प्राप्त हों, वही धन हमें मिल जाए। यह धन सहस्रविध हुआ करता है, जिस की आवश्यकता सब को प्रतीत होती है। धन का तात्पर्य सिर्फ रुपया, आना, पाई से नहीं अपितु जिससे मानव धन्य हो जाए, वही सच्चा धन है। उसी तरह-

सर्ववीरं अपत्यसाचं श्रुत्यं रयिं दिवेदिवे नशामहै। (१९८) २।३०।११

' सभी वीरों से, पुत्रपौत्रों से अन्वित, यश देनेवाला धन प्रतिदिन हमें मिल जाए। ' बहुधा देखा जाता है कि धन अधिक प्राप्त होने पर शूरता घट जाती है और सन्तान पैदा करने की शक्ति भी न्यून हो जाती है। यह दोष रहनसहन त्रुटिमय होने से हुआ करता है। ऐसा दोष न हो और धन पानेके साथ ही उसकी रक्षा करनेका बल भी तथा सुसन्तान उत्पन्न करने का सामर्थ्य भी वर्धिष्णु होता रहे, इस भाँति सामर्थ्यशाली धन का संग्रह किया जाय। और भी देखिए-

यत् राधः ईमहे तत् विश्वायु सौभगं अस्मभ्यं धत्तन। (२४६) ऋ. ५।५३।१३

' जिस धन की कामना हम करते हैं, वह दीर्घ जीवन देनेवाला एवं बढिया सौभाग्य बढानेवाला हो। ' उसी तरह-

यूयं स्पार्हवीरं रयिं रक्षत। (२६३) ऋ. ५।५४।१४

' तुम स्पृहणीय वीरों से युक्त धनका संरक्षण करो। '

अनवभ्रराधसः। (१६४) ऋ. १।१६६।७

अनवभ्रराधसः आ ववक्षिरे।

(२०२) ऋ. २।३४।४

' (अन्-अव-भ्र-राधस:) जिन का धन कोई छीन नहीं सकता, जो धन पतन की ओर नहीं ले जाता, वह धन प्राप्त हो। ' धन जरूर समीप रहे, लेकिन वह इस तरह प्रगतिका पोषक रहे। धनके आधिक्यसे अपने प्रगतिपथपर रोडे नहीं उठ खडे होने चाहिए। धन के बारे में जो यह चेतावनी दी गयी है, वह सभी को ध्यानपूर्वक सोचनेयोग्य है और चूँकि ऐसा स्पृहणीय धन वीर मरुतों के निकट रहता है, इसलिए वैदिक सूक्तों में मरुतों का महत्त्व बतलाया है।

मरुतों का स्वभाववर्णन।

उपर्युक्त वर्णन से इतना स्पष्ट हुआ है कि ये वीर सैनिक मरुत् एक घरमें- (Barrack) बैरक में निवास करते थे, महिलाओं की तरह विभूषित तथा अलंकृत हो, बडी सजधज से बाहर निकल पडते; अपने वस्त्रों, हथियारों तथा आयुधों को साफसुथरे एवं चमकीले रखते; संघ बना कर यात्रा करते और सांघिक या सामूहिक हमले चढाया करते। शत्रुदल पर सामूहिक चढाई करने के कारण इन वीरों के सम्मुख डटकर लडना शत्रु के लिए असंभव तथा दूभर हुआ करता। इसलिए शत्रुसेना जरूर नतमस्तक हो, टिकना असंभव होनेसे, आत्मसमर्पण करती या हट जाती। सभी मरुत् साम्यवाद को पूर्ण रूप से कार्यरूप में परिणत करते थे, अर्थात् किसी तरह की विषमता उन में नहीं पायी जाती थी। सभी युवावस्था में रहते थे और इनका स्वरूप उग्र तथा प्रेक्षकों के दिल में तनिक भीतियुक्त आदर का सृजन करनेवाला था। इन का डीलडौल भव्य था।

मरुतकों पर शिरस्त्राण रखे होते या कभी रेशमी साफे बाँधा करते। सब का पहनावा तुल्यरूप दीख पडता था। भाला, बरछी, कुठार, धनुष्यबाण, पर्शु, वज्र, खड्ग एवं चक्र आदि आयुध इन के निकट रहते। ये सारे शस्त्रास्त्र बडे ही सुदृढ एवं कार्यक्षम रहते। इन के रथों तथा वाहनों को कभी घोडे खींचते, तो कभी बारहसींगे या कृष्णसार-मृग खींच लेते। वर्फीले प्रदेशों में चक्रहीन रथों का और कभी बिना घोडोंके यन्त्रसंचालित एवं बडे वेगसे गर्द उडाते जानेवाले वाहनों का भी उपयोग किया जाता था। शायद वे पंछी की मदद से आकाशमार्ग से जानेवाले वायुयान-सदृश रथों को काम में लाते। इन के वाहन इस प्रकार चार तरह के हुआ करते थे।

ये बडे ही विलक्षण वेग से शत्रुपर धावा करते और उन के इस अचम्भे में डालनेवाले वेग से शत्रु तो हक्का-बक्का रह जाता, पर अन्य संसार भी क्षणमात्र थर्रा उठता। यही कारण था कि इनके प्रबल आक्रमणों के या विद्युद्-युद्ध (Blitz) के सम्मुख क्या मजाल कि कोई शत्रु टिक सके। इन का आघात इतना प्रखर हुआ करता कि चिरकाल से अपना आसन स्थिर किये हुए शत्रु को भी ये विचलित तथा धराशायी बना देते।

मरुत् मानवकोटि के ही थे, परन्तु अनूठा पराक्रम दर्शाने से इन्हें देवत्व का अधिकार प्राप्त हुआ था। वेद में ऋभुओं के बारे में भी ऐसे ही लेकिन ज्यादह स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं, अर्थात् प्रारम्भ में ऋभु शिल्पविद्यानिष्णात कारीगर मानव थे, परन्तु आगे चलकर उन्हें देवों के राष्ट्र में नागरिकत्व के पूर्ण अधिकार प्राप्त हुए थे।

ऐसा दिखाई देता है कि मरुतों के बारे में भी बहुत कुछ ऐसी ही घटना हुई हो। देवों के संघ में जान पडता है कि विशेष अधिकार सब को समान रूप से नहीं प्राप्त हुआ करते; जैसे 'अश्विनौ' वैद्यकीय व्यवसाय में लगे रहते और वे दोनों सभी मानवों के घर जाकर चिकित्सा कर लेते, इसलिए उन्हें यज्ञमें हविर्भाग नहीं मिला करता था। लेकिन कुछ काल के उपरान्त च्यवन ऋषि को बुढापे के चंगुल से छुडाकर फिर युवा बनाने से उस के प्रयत्नों के फलस्वरूप अश्विनौ को वह अधिकार प्राप्त हुआ। पाठकों को अश्विनौ की प्रस्तावना में यह देखने मिलेगा। ठीक उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मरुत् मर्त्य, मानव या सभी काश्तकार थे, लेकिन जब उन्होंने वीरतापूर्ण कार्यकलाप कर दिखाये, तब अथवा विशेषतया इन्द्रके सैन्य में सम्मिलित होनेपर वे देवपदपर अधिष्ठित हुए।

मरुतों में विद्वत्ता, चतुराई, दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता एवं साहसिकता कूट कूट कर भरी थी और वे उद्यमी, उत्साही तथा पुरुषार्थी थे। वे वीरगाथाओं को दिलचस्पी से सुन लेते थे और साहसी कथाओंके सुननेमें तल्लीन हुआ करते।

बीमारों की चिकित्सा प्रथमोपचारप्रणाली से करने में वे प्रवीण थे और इस संबंध में उन्हे कुछ औषधियों का ज्ञान था।

विविध क्रीडाओं में ये कुशल थे, तथा नृत्यविद्यासे भी भली भाँति परिचित थे। बाजे बजाते हुए, तराने गाते हुए और राहपरसे चलते हुए भी वाद्य बजाते, तथा गीत गाते हुए निकल पडते।

ये मरुत् अति भव्य आकृतिवाले तथा गौरवर्ण से युक्त एवं तनिक रक्तिम आभासे विभूषित थे। अपने अन्दर विद्यमान सामर्थ्य से इनका तेज बढा हुआ था। ये कृषि-कार्यमें संलग्न होकर फल, शाक एवं विविध खाद्य चीजोंकी

उपज बढाते थे। ये गोपालन के व्यवसाय को बडी अच्छी तरह निभा लेते थे, क्योंकि गोदुग्ध इनका बडा प्यारा पेय था। सोमरस में गायका दूध, गोदुग्ध का बना दही और सत्तू का आटा मिलाकर पी जाते थे। गाय तथा भूमि को मातृतुल्य आदर की निगाह से देख लिया करते और मौका आनेपर मातृवत् गौ एवं मातृभूमि के लिए भीषण समर भी छेड दिया करते, जिन के फलस्वरूप इनकी ये माताएँ शत्रु के चँगुल से मुक्त हो जातीं।

मरुतों के घोडे बहुधा धब्बेवाले हुआ करते और सुदृढ होते हुए पहाडों पर चढने में बडे कुशल होते थे। ये वीर अपने अश्वों को मजबूत बनाकर अच्छी तरह सिखाया करते थे। मरुत् वीर अश्वविद्या में तथा गोपालन-कलामें बडे ही निपुण थे। वे जानते थे कि किन उपायों से गाय अधिक दूध देने लगती है, अतः इनके निकट दुधारु गायों की कोई न्यूनता नहीं थी। ये वीर जिधर चले जाते, उधर अपने साथ ही आवश्यकतानुसार गायों के झुंड ले जाया करते। युद्धभूमि में भी इन के साथ गोयूथ विद्यमान होते, क्योंकि इन्हें ताजा गोदुग्ध पीनेके लिये अति आवश्यक था, ताकि इन वीरों की थकावट दूर हो बल एवं उत्साह बढ जाए।

ध्यानमें रहे कि वीर मरुतोंका बल बडा ही प्रचंड था, जिसका उपयोग वे केवल जनताके संरक्षणार्थ ही कर लिया करते थे। इसी कारण से मरुतों का सैन्य अत्यन्त प्रभावशाली माना जाता था और इस सैन्यका विभजन शर्ध, व्रात तथा गण नामक संघों में किया जाता था, जिन में क्रमशः ६३; ४४१ तथा ८४४ सैनिक संघटित किये जाते थे।

युद्ध में ठीक शत्रु के मुँह बाँये खडे रहकर अपने जीवित की कुछ भी पर्वाह न करके दुश्मनपर टूट पडना मरुतों के बायें हाथका खेल था। अतः इनके भीषण वेगवान धावे के सम्मुख शत्रु की दशा बडी दयनीय हुआ करती। मरुत् अगर शत्रुओं पर हमले चढाते, तो शत्रु जान बचाकर भाग निकलते। पर यदि शत्रु ही स्वयं मरुतों पर आक्रमण करने का साहस कर लें, तो वीर मरुत् इन आक्रमणों को विफल बनाकर हटाते। इस भाँति मरुतों में द्विविध शक्ति विद्यमान थी।

ये वीर वनों एवं पर्वतों पर यथेच्छ विहार कर लेते, क्योंकि समूचे भूमंडल पर इनके लिए अगम्य या बीहड स्थान था ही नहीं। इनके दिल में किसी विशिष्ट स्थान में जाने की लालसा उठ खडी हुई कि तुरन्त ये उधर जा पहुंचते; कारण सिर्फ यही था कि इन्हें रोकनेवाला तो कोई था ही नहीं। इनका भय इस तरह चतुर्दिक् फैला हुआ था।

ये गणशासक थे। इनका सारा संघ ही इन पर शासन चला लेता था और इन में श्रेष्ठ, मध्यम अथवा कनिष्ठ इस तरह भेदभाव नहीं था। जो कोई इनके संघ में प्रवेश कर लेता, वह समान अधिकारों को पानेवाला सदस्य माना जाता था।

सभी मरुत् वीर समूची जनता का कल्याण करने का शुभ कार्य भली भाँति निभाते थे और इन्द्र के साथ रहकर वृत्रवधसदृश महासमर में इन्द्र को सहायता पहुंचाते। कभी कभी रुद्रदेव के अनुशासन में रहकर लडाई छेड देते, अतः इन्हें 'रुद्र के अनुयायी' नाम से विख्याति मिल चुकी थी।

सारे ही वीर मरुत् कुलीन याने अच्छे प्रतिष्ठित परिवार में उत्पन्न थे। ध्यान में रखना कि किसी भी हीन कुल में उत्पन्न साधारण व्यक्ति को इस संघ में स्थान ही नहीं मिलता था। ये सचाई के लिए लडनेवाले थे और कभी किसीसे ऋण लिया हो, तो ठीक समयपर उसे चुकाते थे, इस कारण उनका साख अच्छा बना रहता।

इन का बर्ताव दोषरहित हुआ करता, रहनसहन सुतरां साफसुथरा था। समूचा पहनावा अत्यन्त जगमगानेवाला था, इस कारण दर्शकोंपर इन का रोब-दाब बडाही अच्छा पडता था। मरुत् धन का उत्पादन करनेवाले एवं धनकी योग्यता समझनेवाले थे, अतः अतीव उदारचेता और दान देने में कभी पीछे नहीं रहा करते।

यद्यपि वीर मरुत् मर्त्य, मानवश्रेणी के थे, तो भी इन का चरित्र इतना दिव्य तथा उच्च कोटिका होता था कि जो कोई इनके काव्य का सृजन करता, वह अमर हो पाता। यह सारा इनका स्वरूप-वर्णन है और जो पाठक मरुतों के सूक्तों का पठन ध्यानपूर्वक करेंगे, उन्हें यह बखान स्थान स्थानपर पढने मिलेगा। पाठक विभिन्न मरुत्-सूक्तोंमें इसे

पढकर मरुतों की शूरता के वास्तविक महत्त्व को जान लें और वीरत्वपूर्ण क्षात्रकर्म में मरुतों के आदर्श को अपने सम्मुख रख लें।

मरुतों के सूक्तों में वीरों के काव्य का दर्शन।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, मरुत्-काव्य वीररसपूर्ण प्राचीनतम वीरगाथा है, जिसे पढते समय वीरत्वपूर्ण तेजकी आलोकरेखा मानस-क्षितिजपर जगमगाने लगती है।

इस संबंध में कुछ मन्त्रों के आशय नीचे अवलोकनार्थ दिये जाते हैं।

११. हे वीरो! तुम्हारे उत्साहपूर्ण आक्रमण से भयभीत होकर मानव तो किसी जगह आश्रय या पनाह पाने के लिये जाते ही हैं; लेकिन पहाडतक थरारने लगते हैं।

१३. जिस समय तुम शत्रुपर धावा करते हो, तब किसी जराजीर्ण वृद्ध की नाईं समूची पृथ्वी थरथर काँपने लगती है।

३९. शत्रुओं की धज्जियाँ उडानेवाले हे वीरो! द्युलोकमें, अन्तरिक्ष में या भूमंडलपर कहीं भी तुम्हारा शत्रु शेष नहीं रहा है। जो तुम्हारे साथ रहते हैं, उन में भी शत्रुविध्वंस करने की शक्ति पैदा हुआ करती है।

४५. हे दानी तथा शूर मरुतो! तुम अखंड सामर्थ्य एवं अविकल बल से पूर्ण हो। हे शत्रु को विकंपित करनेवाले वीरो! ज्ञानी पुरुषों-सज्जनोंका द्वेष करनेहारे दुष्ट शत्रुओं का वध हो इसलिए तुम दूसरे किसी दुश्मन को उन पर बाण की नाईं छोड दो, ताकि तुम्हारा एक शत्रु तुम्हारे दूसरे शत्रु से ध्वस्त हो जाए।

६८. बल से निष्पन्न होनेवाले पौरुषमय कार्य पूर्ण करनेवाले और स्वयंशासक इन वीरोंने वृत्र के टुकडे टुकडे करके पहाडों में से भी राह बना डाली।

७०. बिजली की तरह जगमगानेवाली शस्त्रसामग्री धारण करके लडनेवाले ये वीर जो तेजस्वी और गौरवर्णवाले दिखाई देते हैं, अपने मस्तकोंपर सुनहली आभा से कांतिमान शिरस्त्राण धारण करते हैं।

८१. हे तेजस्वी तथा साफसुथरे आभूषण धारण करनेहारे वीरो! जब तुम शत्रुपर चढाई करते हो तब तुम्हारी राह में आनेवाले टापू भी टूट गिरते हैं, रोडे अटकानेके लिये कोई अगर खडा रहे, तो वह संकटग्रस्त हो जाते हैं; इस आक्रमण के मौकेपर आकाश तथा पृथ्वी काँप उठती हैं और गर्द भी बहुत जोर से उडा करती है।

८७. हे रणबाँकुरे मरुतो! वीरो! जिस वक्त तुम अपनी सारी शक्ति बटोरकर शत्रुपर आक्रमण करते हो, तब ऐसा जान पडता है कि उस ओरका आकाश ही खुद दूर होकर तुम्हें जाने के लिए मार्ग बना देता है।

९१. हे बहादुरो! तुम सब का गणवेश समान है, तुम्हारे गले में सुवर्णहार पडे हैं और तुम्हारी भुजाओंपर हथियार शोभमान हो उठे हैं।

९३. ये उग्र एवं बलिष्ठ वीर अपने शरीरोंके रक्षण की पर्वाह न करते हुए अपना युद्धकार्य प्रचलित रखते हैं। हे वीरो! तुम्हारे रथोंपर स्थिर धनुष्य सुसज्ज हैं और सेना के अग्रभाग में तुम विजयी बनते हो।

१११. अपने शरीरों की सुन्दरता बढाने के लिए ये विविध वीरभूषण पहन लेते हैं; उन के वक्षःस्थलपर सुवर्णविरचित हार लटक रहे हैं, कंधोंपर भाले सुहाते हैं। इस ढंग के ये वीर मानो सचमुच अपने अनूठे बल के साथ स्वर्गसे इस भूतलपर उतर पडे हों, ऐसा प्रतीत होता है।

११६. सामुदायिक शोभा से सुहानेवाले, लोकसेवा करनेहारे, शूर, बलिष्ठ होने से जिनका उत्साह कभी घटता ही नहीं ऐसे महान वीरो! तुम अपने पराक्रम की वजह से द्युलोक एवं भूमंडल मुखरित तथा निनादित बना देते हो। जब तुम अपने रथोंमें निजी आसनोंपर बैठते हो, तब तुम, मेघमंडल में चौंधियाती हुई दामिनी की दमक के तुल्य, अतीव सुहाते हो।

११७. विविध ऐश्वर्यों से शोभायमान, एक घर में निवास करनेवाले, भाँति भाँति के बलों से सामर्थ्यवान प्रतीत होनेवाले, विशेष बलवान, शत्रुदलपर चतुराई से हथियार फेंकते हुए, असीम बल से पूर्ण, वीरोंके आभूषणों से अलंकृत इन नेताओंने अब अपने हाथों में शत्रु का विनाश करने के लिये बाण का धारण कर लिया है।

१६७. जनताके हितप्रद कार्य में जुटे हुए इन वीरों के बाहुओं में बहुतसी कल्याणकारक शक्तियाँ छिपी पडी हैं। उनके वक्षःस्थलपर हार तथा कंधोंपर विविध वीरभूषण एवं हथियार हैं। उन के वज्र की कई धाराएँ हैं और पंछियोंके डैनों के तुल्य उन की शोभा बडी भली जान पडती है।

१७४. ठीक तरह हाथमें पकडी हुई, सुन्दर आभावाली, सुवर्ण के समान चमकनेवाली तलवार, मेघ में विद्यमान बिजली की तरह हमेशा इन वीरों के निकट सुहाती है; अन्तःपुर में रहनेवाली साध्वी नारी जैसे गुप्त रूपसे भीतर ही सदैव संचार करती है, पर यज्ञ के अवसर पर समाज में व्यक्त होती है, वैसे ही उनकी तलवार भी हमेशा अपने मियान में गुप्त पडी रहती है, पर लडाई के मौकेपर बाहर आकर चमकने लगती है।

१९२. हाँ, मातृभूमिने ही अपने संरक्षणार्थ, बडे भारी समर का सूत्रपात करने के लिए इन वेगशाली वीरों का यह बडा भारी सैन्य उत्पन्न किया है। एकही समय मिलजुलकर हमला चढानेवाले इन वीरोंने बहुत बडा सामर्थ्य प्रकट कर डाला है और इन समूचे वीरोंने इसी सामर्थ्य में अपने अन्न की धारकशक्ति का अनुभव ले लिया है।

१९९. युद्ध के मोर्चेपर श्रेष्ठ ठहरे हुए, शत्रु का पूर्ण पराभव करनेवाले सामर्थ्य से युक्त, सिंहके समान भीषण दिखाई देनेवाले, अपने प्रचंड बल से सब की निगाह में पूजनीय बने हुए, अग्नितुल्य तेजस्वी, वेगवान, प्रभावोत्पादक सामर्थ्य से युक्त, ये वीर शत्रुओं के बन्दीगृह से अपनी गायों को छुडाते हैं।

२१८ ये साहसी वीर शाश्वत बलसे युक्त हैं और ये शत्रु पर चढाई करते समय हमेशा ही विजयशील सामर्थ्य से युक्त होकर समूची जनता का संरक्षण करते हैं ।

२६५. विशेष रूपसे सराहनीय कर्म करनेहारे, तेजस्वी हथियार धारण करनेवाले, वक्षःस्थल पर माला पहननेवाले ये वीर बहुत बडा बल धारण करते हैं। अच्छी तरह स्वाधीन रहकर गमन करनेवाले ये वीर घोडोंपर बैठकर इधर आते हैं । इनके रथ लोकहितार्थ जाते हुए उन्हीं को इष्ट स्थान तक पहुंचाते हैं ।

२७८. ये अपने सामर्थ्य से शत्रु का पूर्ण विनाश करते हैं और अपने आक्रमणों से पर्वततुल्य बृहदाकार दुर्गोंको भी मटियामेट कर डालते हैं ।

२८५. भूमि को माता माननेवाले हे वीरो! तुम्हारे निकट कुठार, भाले, धनुष्य, तूणीर, घोडे, रथ, हथियार सभी बढिया दर्जेके साधन हैं । तुम उत्कृष्ट ज्ञानी हो और तुम हमेशा अच्छे कार्य ही करते हो ।

२९१. हे नेता वीरो ! तुम बहुत धनाढ्य, अमर, सत्यनिष्ठ, यशस्वी, कवि, ज्ञानी, युवक तथा प्रशंसनीय हो; तुम हमारी मदद करो ।

३८६. हे वीरो ! तुम जिसकी रक्षा करते हो और लडाई में जिसे तुम बचा लेते हो, उसका विनाश कभी नहीं होता है। यह जो तुम्हारी अपूर्व ढंग की रक्षा करने की बुद्धि है, वह हमें मिल जाए। तुम जरूर हमारे पास आओ ।

४१७. ये वीर, वायु जैसे तिनके को उडा देता है उसी प्रकार शत्रुओं को उडा देते हैं और वेगवान होते हुए अग्निज्वालातुल्य तेज पुञ्ज दीख पडते हैं, ये योद्धा अपने कवच पहनकर तथा युद्धों में जाकर बहुत ही प्रशंसनीय कार्य करते हैं; पिता के आशीर्वाद-तुल्य इनके दान अत्यन्त साहाय्यकारी होते हैं ।

४२८ रथों को धब्बेवाले घोडे जोतनेहारे, भूमि को माता माननेहारे, लोककल्याण के लिए हलचल करनेवाले, युद्धों में सहर्ष जानेवाले, अग्नितुल्य द्योतमान, विचारशील, सूर्यवत् तेजस्वी ये वीर अपने सभी दैवी सामर्थ्यों के साथ हमारे निकट आ जायँ ।

४३४. हे उग्र स्वरूपवाले वीरो ! तुम ऐसे भीषण संग्राम में डटकर खडे हुए हो, आगे बढो, शत्रुओं का वध करो, दुश्मनों का पूर्ण पराभव करो । ये सराहनीय वीर हमारे शत्रुओं का वध कर डालें; इनका दूत भी शत्रुपर चढ जाए और उन का विनाश कर डाले ।

४३५. हे वीरो ! यह जो शत्रुकी सेना बडे वेगसे हमें चुनौती देती हुई हमपर टूट पडने आती है, उस सेना को धूम्रास्त्र से अँधेरा बनाकर इस ढंगसे बिद्ध कर डालो कि समूची शत्रु-सेना भ्रान्त हो जाए और सभी सैनिक एक दूसरेको न पहचानते हुए बिलकुल सहमेसहमे रह जाँय ।

४५०. हे शत्रु को रुलानेवाले वीरो ! तुम जब शत्रुपर हमला करने के लिये धब्बेवाली हरिणियाँ अपने रथों में जोत लेते हो और रथपर चढ जाते हो, उस समय मारे डरके सारे जंगल हिल जाते हैं तथा समूची पृथ्वी एवं अटल पर्वत भी थरथर काँपने लगते हैं।

४५३. हे रणबाँकुरे योद्धा वीरो ! तुम में कोई भी श्रेष्ठ या कनिष्ठ नहीं है, तुम सभी एक दूसरे से भाईचारे का बर्ताव रखते हो और अपनी उन्नति के लिये एक

हो संचालन करते हो; रुद्र तुम्हारा पिता है और भूमि तुम्हारी माता है जो तुम्हें प्रकाशका मार्ग दिखलाती है।

इस प्रकार इस वीर-काव्य में विद्यमान ओजस्वी विचार यहाँ बानगी के तौरपर दिये हैं। यहाँपर इस काव्य का बिलकुल शब्दशः अर्थ दिया है, तथा साधारणतया स्पष्ट दिखाई पडनेवाला भावार्थ भी दिया है। शब्दशः अनुवाद अभ्यासक लोगों के लिए अत्यंत आवश्यक है और भावार्थ भी उन्हीं के लिये उपयुक्त है। जो विशेष अध्ययन करना चाहते हों उनके लिए टिप्पणी सहायक प्रतीत होगी पर जो वेदमंत्रों का विशेष गहन अध्ययन करना नहीं चाहते या जिन के समीप इतना अध्ययन करने के लिये समय नहीं उन के लिये सरल अनुवाद आवश्यक है। ऐसे सरल अनुवाद में आगेपीछे के सन्दर्भके अनुसार अधिक लिखना पडता है और यथाशक्ति कवि के मन का आशय पाठकोंके दिल में पैठ जाय इस हेतु कुछ अधिक बातें सन्दर्भ के अनुसार लिखनी पडती हैं। हमने जानबूझकर यहाँ स्वतंत्र और लगातार लिखा हुआ अनुवाद नहीं दिया और इस प्रथम संस्करण में शब्दशः अनुवाद टिप्पणियों तथा अन्य साधनों के साथ स्वाध्यायशील पाठकों के लिये प्रस्तुत कर रखा है। द्वितीय संस्करण के अवसरपर संभव हुआ तो वैसा सीधा अनुवाद दिया जायगा।

वेद का अध्ययन।

आजकल सब लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि, वैदिक संहिताओंके अध्ययन का अर्थ सिर्फ मन्त्र कंठस्थ कर लेने हैं और यह धारणा सहस्रों वर्षों से चली आ रही है। इस का नतीजा यूं हुआ है कि संहिताओं के अर्थ की ओर अधिक लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं होता है। यद्यपि बहुत अर्से से विद्वान ब्राह्मण इन संहिताओं को कंठस्थ करते आये हैं पर अर्थ के बारेमें अधिकों का औदासीन्य ही दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान काल में ऋग्वेद (शाकल), यजुर्वेद (तैत्तिरीय, वाजसनेयी एवं काण्व), सामवेद (कौथुमी) और अथर्ववेद (शौनक) संहिताओंका अध्ययन प्रचलित है। अर्थात्, कुछ ब्राह्मण इन का पठन करते हैं लेकिन ऋग्वेद की सांख्यायन एवं बाष्कल संहिता, यजुर्वेदकी मैत्रायणी, काठक, कापिष्ठल, कठ संहिता, सामवेद की राणायणी एवं जैमिनीय संहिता तथा अथर्ववेदकी पिप्पलाद इन संहिताओंका अध्ययन लुप्तप्राय हो है। अच्छा, जिन संहिताओं का पठन प्रचलित है ऐसा ऊपर कहा गया है उन का अध्ययन भी बहुत से विद्वान करते हैं, ऐसी बात नहीं। समूचे भारतवर्ष में ऐसे अच्छे वेदपाठी चार या पाँच सौसे अधिक नहीं हैं और उच्चकोटि के घनपाठी तो पूरे सौ भी मिलना कठिन ही है। मतलब यही कि, आजदिन वेदाध्ययन का लोप यहाँतक हुआ है।

इस से स्पष्ट होगा कि, आधुनिक युग में वेदपठन का भविष्य या वर्तमानदशा तनिक भी उज्ज्वल नहीं है, क्योंकि वेदाध्ययन लुप्त होता जा रहा है। जनता में भी वेदपाठी ब्राह्मण के लिये तनिक आदर रहा हो तो भी वह नहीं के बराबर है क्योंकि उस ज्ञान का व्यवहार में तनिक भी उपयोग नहीं है, ऐसी ही सार्वत्रिक धारणा प्रचलित है।

अगर प्राचीन कालसे सार्थ वेदाध्ययनकी प्रथा जारी रह जाती तो बहुत कुछ संभव था कि, व्यवहार में उस का उपयोग स्पष्ट हुआ होता और आज जो यह गलतफहमी सर्वसाधारण में पायी जाती है कि, वेदाध्ययन सुतरां निरुपयोगी है, निर्मूल ठहरती या उत्पन्न ही नहीं होती। इस प्रतिपादन को स्पष्ट करने के लिये हम मरुद्देवता के मन्त्रों का उदाहरण लेंगे। यदि मरुतों के सूक्तों का अर्थ-सहित अध्ययन करने की प्रणाली प्राचीन काल से अस्तित्व में रहती तो संभव था कि उन में सूचित ढंग से सैनिकों की सांधिक शिक्षा का प्रबंध करने की कल्पना किसी न किसी को सूझती और शायद भारतीय नरेशों के सैन्यों में सातसात की पंक्ति करना, सब का मिलकर समान गति से कूच करना, सब का पहनावा तुल्य होना और आठसौ नऊसौ सिपाहियों का समूह बनाकर हमले चढाना आदि महत्त्वपूर्ण प्रथाओं का प्रचलन शुरु होता।

पर क्या कहे ? हिन्दुधर्म एवं हिन्दुत्व की रक्षा के लिये अस्तित्व में आये हुए विजयनगर के साम्राज्य में या तदुपरान्त कई शताब्दियों के पश्चात् प्रस्थापित हुए मराठों के अथवा पेशवाओं के शासनकाल में मरुतोंकी सी सैनिक शिक्षा-प्रणाली कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकी। विजयनगरके राज्य में वेदोंपर भाष्य लिखनेवाले सायण माधव सदृश बडे आचार्य हुए जिन के वेदभाष्य प्रकट होनेपर भी वेदाध्ययन केवल यज्ञोंतक ही सीमित रहा। उस समय

भी वेदप्रदर्शित एवं अनूठे ढंग से सांघिक सामर्थ्य बढानेद्वारा मरुतों का यह सैनिकीय शिक्षा का अनुशासन प्रत्यक्ष व्यवहारमें नहीं आ सका, अथवा यूं कहे कि तब किसी के ध्यान में यह बात नहीं आयी कि वैदिक सिद्धांतों को व्यावहारिक स्वरूप दिया जा सकता है, तो यह प्रतिपादन सचाई से दूर नहीं होगा ।

हॉ, श्री छत्रपति शिवाजी महाराज के काल से लेकर अन्तिम स्वतंत्र सातारा-नरेशतक या प्रथम पेशवा से ले १८१८ तक के मराठी साम्राज्य के काल में वेदाध्ययन के लिए लक्षावधि रुपयोंका व्यय हुआ, वेद कंठस्थ रखनेवाले ब्राह्मणोंको खूब दाक्षिणा मिली पर अन्तमें क्या हुआ? अचम्भे की बात इतनी ही है कि, किसी को भी यह कल्पना नहीं सूझी कि, अर्थसहित वेदाध्ययन करनेवालों के लिये कुछ न कुछ प्रबंध करना चाहिये, या वैदिक साहित्य में लाभदायक एवं उपादेय कुछ हो तो ढूँढ लेना चाहिए और तुरन्त उसे व्यावहारिक स्वरूप दिया जाय । उस काल में वेद के बारे में बस यही धारणा प्रचलित थी कि, मन्त्र कंठाग्र रहें और यज्ञ के मौकेपर उन का उच्चार किया जाय, बहुत हुआ तो मन्त्र-जागर के अवसरपर मन्त्रपठन करना उचित है ।

ऐसी धारणा से प्रभावित होने के कारण, श्रीमत्सायणाचार्य के कालमें भी वेदभाष्य लिखा तो गया था तथापि उस वेदमें वर्णित सिद्धान्त व्यवहारमें नहीं आ सके; इतना नहीं किंतु अगर कोई उस काल में यह बतलानेका साहस करता कि वेदमंत्रों में निर्दिष्ट सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणत करना चाहिये तो भी किसीका ध्यान उधर आकृष्ट नहीं होता, यहाँ तक उन दिनों केवल मात्र वेदपठन का अत्यधिक प्रचार था और उसे सार्वत्रिक मान्यता मिल चुकी थी । ऐसी दशा का भारी दुष्परिणाम यहीं हुआ कि भारतीय नरेशों के सैन्य प्रभावशाली बनने के बजाय आकिंचित्कर एवं निरुपयोगी हुए ।

भारत में युरोपीय राष्ट्रों के लोगोंका पदार्पण हुआ जो अपने साथ निजी संघ-सैनिक-प्रणाली ले आये और वह भारत के असंगठित सैनिकों की अपेक्षा ज्यादह प्रभावशाली प्रतीत होनेके कारण श्री महादजी शिंदेने फ्रेंच सेनापति को अपने यहाँ रखकर उसे अपने सिपाहियोंमें प्रचलित करनेकी चेष्टा की, तो भी अन्य महाराष्ट्र सरदार इस शिक्षा में पिछडे रहे । इसका परिणाम यही हुआ कि अन्त तक शिंधिया को फ्रेंचों की पराधीनता सहनी पडी । यह बात सब को ज्ञात थी कि शिंदे की सेना अधिक प्रभावोत्पादक हुई थी लेकिन उस प्रणाली का प्रचार किसीने नहीं किया था । अगर लोगों को परंपरागत रूप से यह बात विदित होती कि वेद के मरुत्सूक्तों में यह संघ-सैनिक-प्रणाली वर्णित है तथा यह पूर्णतया भारतीय है तो शायद अनुभव से इसका अधिक प्रचार हो जाता जिस के परिणामस्वरूप योरपीयनों से लडते समय जो ममस्या व्यस्त अनुपात में हल हुई वही बहुधा सम परिमाण में छूट गयी होती ।

सहस्रों वर्षों से मरुद्देवता के मंत्रों को कंठ कहनेवाले ब्राह्मण भारत में चले आ रहे थे और उन्होंने शब्दों के उलट पुलट प्रयोग मुखोद्गत कर लिए पर मरुतोंकी सैनिकप्रणाली के सिद्धान्त अज्ञातदशा में रखकर केवल मंत्रों का उच्चारण किया । लेकिन एकने भी इस संघ-सैनिक-शिक्षण सिद्धांत की ओर लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया । केवल मंत्रों को जबानी याद कर लेने से तथा ऊँची आवाज में पढलेनेमात्र से अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होगी, ऐसे विश्वास के सहारे ये हजारों वर्षों तक संतुष्ट रहे । इस असावधानी का परिणाम यही हुआ कि भारतीयोंका क्षात्रबल न्यूनातिन्यून होने लगा । अगर यह संघ-सैनिक-शिक्षा भारतीयों को प्राप्त होती तो प्रति पीढी में प्राप्त होनेवाले अनुभवके सहारे उस में खूब उन्नति हो जाती । पर उन्नति के स्थान पर भारतीयों के अव्यवस्थित एवं असंगठित सैन्य को योरपीयनों के सिखाये हुए संघशासित सैन्य के सम्मुख टिकना असंभव हुआ, जिस से अंततोगत्वा भारतवर्ष पराधीनता के दलदल में फँस गया । अर्थज्ञानपूर्वक अगर वेद का अध्ययन प्रचलित रहता और यदि किसी के ध्यान में यह बात पैठ जाती कि वेद के ज्ञान से व्यावहारिक जीवन में लाभ उठाया जा सकता है तो उपर्युक्त बात सहजही में किसी का ध्यान आकर्षित कर लेती और ऐसा हो जाने पर संगठित सैन्य का सृजन भारत में हो जाता ।

मरुतों के मंत्रों का और इन्द्र देवता के मंत्रों का ज्ञानपूर्वक पठन करनेवाले को सैनिकों का संघशासन कैसे किया जाय, सेना का संघ में विभजन किस ढंगसे हो सकता है

तथा सभी सैनिकों का तुल्य वेष कैसे हो, सब का प्रबंध किस तरह किया जा सकता और उनकी सामुदायिक शक्तियों का सांघिक उपयोग किस प्रकार करना ठीक है आदि महत्वपूर्ण बातों की कुछ न कुछ जानकारी अवश्य हो जाती। परन्तु दुर्भाग्य से, सहस्रों वर्षों से वेद केवल मुखोद्गत एवं जबानी याद कर लेनेकी वस्तु बन गयी और वेदनिर्दिष्ट सैनिक-विद्या सुतरां अपनी होनेपर भी हमारे लिए वह एक परकीयसी हुई तथा यदि हमें वह सीखनी हो तो दूसरों की कृपा से ही वह साध्य हो सकती है। कारण इतना ही है कि सजीव एवं स्फूर्तिमय वैदिक युगसे लेकर आज तक जो सहस्र सहस्र वर्षों की लंबी चौडी खाई हमारे एवं वेदकाल के बीच पडी हुई है उसके परिणाम-स्वरूप हमारे वे पुराने संस्कार लुप्तप्राय से हो गये हैं और परंपरागत ज्ञानसंचय से हम सर्वथैव वंचित हो गये हैं। आज हमारी यह वास्तविक हालत है।

पाठक देखें और सोचें कि वेद का वास्तविक अर्थ हमें ज्ञात नहीं हुआ इसलिये राष्ट्रिय दृष्टिसे हमारी कितनी बडी हानि हुई है तथा अब भी अपने ज्ञानभाण्डारमें इस वैदिक ज्ञान की वृद्धि करने का प्रयत्न करें।

वैदिक ज्ञानके विचार से वर्तमानकालमें भी एक अत्यन्त उत्तम 'जीवन का तत्वज्ञान' प्राप्त हो सकता है। मरुत् सूक्त में प्रदर्शित सैनिकीय शिक्षा उस विशाल तत्वज्ञानका एक अंशमात्र है और क्षात्र तत्वज्ञान में उसका स्थान बडा ऊँचा है।

हाँ, यह बात सच है कि कंठस्थ कर लेने से ही वेद-संहिताएँ अब तक सुरक्षित रहीं और इसका सारा श्रेय वेद-पाठ में समूचा जीवन बितानेहारे लोगों को मिलनाही चाहिए। यह सब बिलकुल ठीक है, क्योंकि अगर, वेदपाठ करने में महान् पुण्य है ऐसा विश्वास न बढाया जाता तो शायद ही कोई वेद पढने में प्रवृत्त होता और वेद सदा के लिए उपेक्षित रहते। परन्तु यदि कहीं वेद के जीवित तत्व-ज्ञान को अर्थज्ञानपूर्वक व्यवहारमें लानेमें सफलता मिलती तो अपने क्षत्रिय वीर समूचे विश्व में विजयी हो जाते और भारतीय संस्कृतिपर जो आघात हुए वे न होते। अतः स्पष्ट कहना चाहिए कि वेद के अर्थ की ओर भारतीयों ने जो ध्यान नहीं दिया उससे उन्हें महान् हानि एवं क्षति के सम्मुखीन होना पडा। भारतीयों के जीवन का सारा तत्वज्ञान ग्रन्थों में बंद पडा रहा और भारतवासी उस भारी बोझ को ढोते हुए भी तनिक अंश में भी उस तत्व-ज्ञान से लाभ नहीं उठा सके। क्या यह हानि अल्पसी है? कदापि नहीं। अस्तु।

जो प्राचीनकाल एवं मध्ययुग में हो चुका उसकी ज्यादह छानबीन करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता क्योंकि जो घटनाएँ हो चुकीं वे अन्यथा नहीं हो सकतीं। हाँ, अब भविष्य में तथा वर्तमानकालमें भी जीवित ज्ञान ज्योतिकी ओर हमारा ध्यान अधिकाधिक आकर्षित होना चाहिए।

वेदमंत्रों में जीवित संस्कृति का तत्वज्ञान है और वह केवल कंठस्थ करने के लिए ही सीमित रहे सो ठीक नहीं; वास्तव में इस वैदिक तत्वज्ञान की सुदृढ नींवपर अपनी समाज-रचना एवं राष्ट्र निर्माणका विशाल मन्दिर उठ खडा हो जाए तो चाहिए तथा इस प्रकार अपने वैदिक तत्वज्ञान के आधार से सामाजिक पुनर्घटना एवं राष्ट्रीय व्यवहार का संचलन होने लगे तो सचमुच आधुनिक युग की अनेक जटिल समस्याएँ बडी सुगमता से हल हो सकती हैं ऐसा हमारा दृढ विश्वास है। आज संसार में बलवाद, समाज-सत्तावाद, साम्यवाद, लोकतंत्रशासनवाद, साम्राज्यवाद आदि विविध वादोंकी धूम मच रही है। मानवजाति इतने वादों के मध्य अपना कोई निर्णय नहीं कर पाती, जिस से समूचा मानवसमाज बडा दुःखी हो उठा है। अब भारतीय जनता देख ले कि, क्या इन सभी पूर्वोक्त परस्पर कलहाय-मान वादों की अपेक्षा, आध्यात्मिक 'समत्ववाद' जो कि वेदों की बहुमूल्य देन है, यदि संसार के सामने रखा जाय तो इस तत्वज्ञानके सहारे संसारके सभी उलझन में डालने वाले पेचीदे सवालों को आसानी से हल नहीं किया जा सकता है? अवश्य हो सकता है, ऐसा दृढ विश्वास है।

चूँकि बहुत प्राचीन काल से यह निर्धारितसा हो चुका था कि वेद तो सिर्फ कंठाग्र करने के लिए ही हैं अतः यह वैदिक तत्वज्ञान बहुत ही पिछडा हुआ है। अब भारतीयों का यह प्रमुख कर्तव्य है कि इस अमोलिक तत्वज्ञान को समूचे विश्व के सम्मुख अधिक बलपूर्वक रखें और आगे बढना शुरु कर दें कि इस तत्वज्ञानके बलबूतेपर ही संसार के सभी विकट प्रश्न हल किये जा सकते हैं।

वैश्वानर यज्ञ।

हाँ, यह बिलकुल सत्य है कि वेद यज्ञके लिए हैं परन्तु " **वह यज्ञ मानव-जीवनरूपी विश्वव्यापक महायज्ञ है।** " यह यज्ञ इस वैश्वानर के लिए करना है। यह प्रारंभ में प्रचलित बडा भारी व्यापक अर्थ लुप्त हो गया और पश्चात् केवल अतिसीमित एवं अतिसंकुचित अर्थ जनतामें रूढ हो गया, जब कि ये समूचे मन्त्र इन यज्ञों में ऊंची आवाजमें पढे जाने लगे। आज न जाने कितनी शताब्दियों से बस यही कार्यक्रम प्रचलित है। आज के दिन मौलिक तथा सच्चे व्यापक अर्थ की अक्षम्य उपेक्षा हो रही है, कोई भी उधर तनिक भी ध्यान नहीं देता है। इस महान् त्रुटि के कारण वैदिक तत्त्वज्ञान बहुत पीछे रह गया है। अब हमें उचित है कि वेदमंत्रों के अर्थ देखकर वैश्वानर यज्ञ के स्वरूप में वैदिक तत्त्वज्ञान की झाँकी प्राप्त करें और उसे मानवजाति के विचारार्थ धर दें। यह कार्य बडा ही प्रचंड है सही, लेकिन यदि करने के लिए कटिबद्ध हो उठें तो अवश्य उसमें सफलता मिलेगी इसमें क्या संशय?

पुराणों का समालोचन।

इस ग्रन्थ में हम मरुतों के मन्त्रों का अर्थ पाठकों के लिए दे चुके हैं। यह अच्छा होता अगर हम साथ ही साथ अनेक पुराण-ग्रन्थों में उपलब्ध मरुतों की कथाओंको भी इस पुस्तक में स्थान दे देते क्योंकि तब यह दर्शाना सुगम होता कि मूल वैदिक सिद्धान्तों को पुराणों के रचयिताओंने किस स्वरूप में परिवर्तित किया। पर इन दिनों मुद्रणार्थ कागज आदि साधन अति दुर्लभ होने के कारण ग्रन्थ का स्वरूप बढाना असम्भव हुआ। इतना ही आज हम कह सकते हैं कि द्वितीय संस्करण के मौकेपर यह सारी जानकारी दे दी जायगी। सभी भविष्यकालीन विचार उस समयकी जागतिक परिस्थिति पर ही निर्भर हैं।

मरुद्देवता और युद्धशास्त्र।

मरुद्देवता के मन्त्रों में मरुतों के बखान करने के बहाने से युद्धशास्त्र, युद्धसाधन, युद्धके दाँव-पेच आदि का उल्लेख किया है। ऐसी बातों का स्पष्टीकरण भारतीय युद्धशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की दृष्टि से करना चाहिए और यह अधिक विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता रखता है। आज हमें युद्धशास्त्र पर बहुतसा साहित्य उपलब्ध है और महाभारत आदि ग्रन्थों में स्थानस्थान पर विभिन्न निर्देश हैं। यदि इन सभी निर्देशों का सम्पूर्णरूपसे विचार किया जाय, तो बहुत कुछ बोध मिल सकता है, पर यह सब भविष्य-कालीन स्थिति पर ही अवलम्बित है।

निसर्ग में मरुतों का स्थान।

सभी वैदिक देवता निसर्ग में अवस्थित हैं और इसी तरह मरुतों का भी प्राकृतिक विश्वमें स्थान है, जो '**वर्षा-कालीन वायुप्रवाह**' से स्पष्ट होता है। वर्षा होते समय आँधी एवं वेगवान् पवन का बहना शुरु होता है। आकाश मेघों से व्याप्त होता है, बिजली की कडक सुनाई देती है और प्रचण्ड तूफान का अवतरण होता है। वे प्रबल झंझावात ही ' मरुत् ' हैं, जो इनका बाह्य प्रकृति में दृश्यमान रूप है।

जिस समय प्रबल आँधी चलने लगती है, वेगवान झंझावात बहते हैं, तब बडेबडे पेड जडमूल से उखडकर टूट पडते हैं, वृक्षवनस्पति काँपने लगते हैं, कभी कभी तो बिजली के गिरने से विनष्ट भी होते हैं। इस समय की स्थिति का वर्णन महायुद्ध के वर्णन से बहुत कुछ साम्य रखता है। भीषण महासमर में भी कह नहीं सकते कि कौन जीवित रहेगा या कौन मौत के मुँह में समा जायेगा। विश्व में तूफानी वायुमण्डल तथा आँधी के जोरसे जो खलबली मचती है उस में और प्रबल दुश्मनों से होनेवाली वीरों की भिडन्त में साम्य अवश्य ही दिखाई पडता है।

वैदिक कवियोंने मरुतों का वर्णन मानवी स्वरूप में ही किया है। मरुतों के सूक्त पढ लेनेसे साफसाफ दिखाई देता है कि कुछ मन्त्रों में झंझावात का बखान किया है और कई मंत्रों में स्पष्ट रूप से मानवी वीरोंका वर्णन किया है तो अन्य कुछ मंत्रों में दोनों एक दूसरे से हिल मिल गये हैं।

देवताओंके वर्णनको '**आधिदैविक**', मानवोंके वर्णनको '**आधिभौतिक**' और आत्मशक्ति के वर्णनको '**आध्यात्मिक**' कहते हैं। जो पिंडमें है वही ब्रह्माण्डमें पाया जाता है, यह सिद्धान्त इस वर्णनके मूलमें है। इसी कारण किसी एक क्षेत्र में जो वर्णन किया हुआ हो, वही दूसरे क्षेत्र में

परिवर्तित कर दिखलाया जा सकता है। मरुत् अधिदैवत में 'वर्षाकालीन वायुप्रवाह,' अधिभूत में "वीर क्षत्रिय' और अध्यात्म में 'प्राण' है। इस दृष्टिकोण से एक क्षेत्र का वर्णन दूसरे क्षेत्र के लिए भी लागू हो सकता है। इस संबंध को देख लेने से ज्ञात होगा कि मरुतों के वर्णन में वीरों का बखान किस तरह समाया हुआ है।

पाठकों को स्पष्ट प्रतीत होगा कि 'मरुत्' मर्त्य, मानव, मनुष्य-श्रेणी के हैं ऐसा समझ कर उनका वर्णन इन मंत्रों में किया है। इस निश्चित वर्णन में वैदिक देवताओं का आविष्करण विशेष सत्यरूप से होता है। ठीक वैसे ही मानवजातिमें मरुत् देवता सैनिक क्षत्रियों के रूप में प्रकट होती है। इन्द्र देवता नरेश एवं सरदार के स्वरूप में और ब्राह्मणों में अग्नि, ब्रह्मणस्पति आदि देवता स्वक स्वरूप धारण करते हैं। अतः उन उन देवताओं के वर्णन के अवसर पर उस उस वर्ग के लोगों के कर्तव्य विशेषतया वर्णित किये जाते हैं। इसी रीतिसे मरुतों के वर्णन में सैनिकों की हैसियत से कार्य करनेवाले क्षत्रियों के कर्तव्य-कर्मों का उल्लेख किया है और इन सूक्तों में क्षत्रियधर्म का स्पष्टीकरण हुआ है जिसका कि विचार पाठकों को अवश्य करना चाहिए। अस्तु।

अधिक विचार करने के लिए मरुद्देवता का मंत्रसंग्रह पाठकों के सम्मुख रखा है। आशा है कि इस तरह सोच-विचार करके निश्चय होनेवाले मानवी क्षात्रधर्म की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न होगा।

स्वाध्याय-मंडल,
औंध, जि. (सातारा)
दिनांक १५।८।४२

निवेदक
श्री० दा० सातवलेकर

प्रस्तावनाकी अनुक्रमणिका।

दैवत-संहितान्तर्गत

मरुद्देवता का मन्त्रसंग्रह ।

अनुक्रमणिका ।

अग्निर्मरुतश्च ।

इन्द्रो मरुतश्च ।

मरुत्वानिन्द्रः ।

इन्द्रामरुतौ ।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध